

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Jain Vishva Bharati Institute Research Journal

अनुसंधान त्रैमासिकी

पूर्णाङ्क-९८

प्रमुख आकर्षण

- जैनधर्म और पर्यावरण
- वनस्पतियों में जीवेन्द्रिय संज्ञान
- कर्पूरसंजरी का सौन्दर्य निकष
- योगविशिका (आचार्य हरिभद्र)
- रोड़ेराव की 'राउरवेल'
- Education in Ancient India
- Concept of Development & Man



जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनून-३४१३०६

Jain Vishva-bharati Institute, Ladnun-341306,

तुलसी प्रज्ञा : अनुसंधान त्रैमासिकी

Tulsī Prajñā—Research Quarterly

पूर्णाङ्क-९८

परामर्शक

प्रो. बी. बी. रायनाड़े

सदस्यगण

प्रो. राय अश्विनीकुमार

प्रो. भार. के. ओझा

डॉ. जे. आर. भट्टाचार्य

डॉ. बच्चराज दूगड



जैन विश्व-भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनू ३४१ ३०६ (राज०) भारत

संपादक
परमेश्वर सोलंकी

Articles for Publication must accompany with notes and references, separate from the main body.

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers. It is not necessary that the INSTITUTE agree with them.

Editorial enquiries may be addressed to : The Editor, Tulsī Prajñā, JVBI Research Journal, Ladnun-341 306 (INDIA).

© Copyright of Articles, etc. published in this journal is reserved.

Annual Subs. Rs. 60/- Rs. 20/- Life Membership Rs. 600/-

Published by Dr. Parmeshwar Solanki for Jain Vishva-bharati Institute Deemed University, Ladnun-341 306 and printed by him at Jain Vishva-bharati Press, Ladnun—341 306 Published on 30.11.1996

अनुक्रमणिका/Contents

१. जैन तंत्र साहित्य] अशोक 'सहजानन्द'	८९—९०
२. जैन धर्म एवं पर्यावरण सुरेश जैन	९१—९६
३. अनेकान्तवाद की सार्वभौमिकता सुभाषचन्द्र सच्चदेवा	९७—१००
४. वैदिक साहित्य में तत्त्व विचार राजवीरसिंह शेखावत	१०१—११०
५. 'आयारो' में हिंसा-अहिंसा विवेक' सुरेन्द्र वर्मा	१११—११६
६. वनस्पतियों में जीवेन्द्रिय संज्ञान मुनि श्रीचंद 'कमल'	११७—१२०
७. कविराज राजशेखर रचित 'कर्पूर मंजरी' रामदीप राय	१२१—१२६
८. साहित्य लहरी के दो पद उपेन्द्रनाथ राय	१२७—१३६
९. 'कर्पूरमंजरी' का सौन्दर्य निकष समणी प्रसन्न प्रज्ञा	१३७—१४४
१०. 'रत्नावली' में अलंकार-सौन्दर्य सज्जा पंत	१४५—१५४
११. 'आषाढ का एक दिन' का कालिदास जयश्री रावल	१५५—१५८
१२. साहित्य सत्कार एवं पुस्तक-समीक्षा	१५९—१६६
प्रकीर्णकम्	
१३. योगविशिका (आचार्य हरिभद्र) मुनि कुलहराज	०१—०८
१४. रोडेराव की 'राउरवेल' का मूलपाठ परमेश्वर सोलंकी	०९—२०

१५. राजस्थानी कहावतें—एक संक्षिप्त संकलन २१—४४
स्व० मुनि हड़मानमल, सरदारशहर
१६. प्रमाण्यवाद और क्वातम यान्त्रिकीय धारणाए ४५—५०
शक्तिधर शर्मा
१७. ४५ जैनागमों का सुवर्णाक्षरी मूलपाठ ५१—५४

English Section

1. An Incomplete Manuscript of Gopa-Leela 43—46
Gouri Shankar Tripathy
2. Theory of Relativity & Anekantavad 47—70
N.L. Jain
3. Education in Ancient India 71—80
As known from Buddhist works
Narendra Kumar Dash
4. The Concept of Development and Man 81—94
Anand Kashyap
5. Army Problem in Kautilya's Arthaśastra 95—98
Dhananjaya Bhanja
6. Jain Karma Theory 99—102
Serguei Krivov

जैन तंत्र साहित्य

■ अशोक 'सहजानन्द'

'तंत्र' शब्द 'तन्' और 'त्र' से बना है। विस्तार पूर्वक तत्त्व को अपने अधीन करना—यह अर्थ व्याकरण की दृष्टि से स्पष्ट है, जबकि तन् पद से प्रकृति और परमात्मा तथा 'त्र' से स्वाधीन बनाने के भाव को ध्यान में रखकर 'तंत्र' का अर्थ— देवताओं के पूजा आदि उपकरणों से प्रकृति और परमेश्वर को अपने अनुकूल बनाना होता है। साथ ही परमेश्वर की उपासना के जो उपयोगी साधन हैं वे भी तंत्र कहलाते हैं। निष्कर्षरूप में हम मान सकते हैं कि तंत्र वह स्वतंत्र शास्त्र है जो पूजा और आचार पद्धति का परिचय देते हुए इच्छित तत्त्वों को अपने अधीन बनाने का मार्ग दिखलाता है।

तंत्र ग्रन्थों का प्रणयन सर्वप्रथम कब और कहाँ हुआ ? यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित है। उपलब्ध तंत्र ग्रन्थों में चार बातें प्रमुख हैं—ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या। ज्ञान विभाग में दर्शन के साथ मंत्रों के रहस्यात्मक प्रभाव का वर्णन किया गया है। यंत्र और मंत्र भी इसी में आ जाते हैं। योग विभाग में समाधि और योग के अन्यान्य अंगों की चर्चा प्रमुख है। साथ ही यह भी दिखाया गया है कि योग के प्रभाव से/अभ्यास से अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति सहज हो जाती है। क्रिया विभाग में मूर्त्तिपूजा का विधान प्रमुख है। मूर्त्ति और मंदिर सम्मिलित है। चर्या विभाग में उत्सव, व्रत एवं सामाजिक अनुष्ठानों का विवरण है। तंत्र ग्रंथों का दार्शनिक दृष्टि से अनुशीलन करने पर तीन प्रकार का विमर्श प्रतीत होता है—द्वैत विमर्श, अद्वैत विमर्श तथा द्वैताद्वैत विमर्श। देवता भेद से इसके अनेक भेद हैं जिनमें बहुचर्चित हैं—वैष्णव तंत्र, शैव तंत्र, शाक्त तंत्र, बौद्ध तंत्र और जैन तंत्र।

आद्य तीर्थंकर ऋषभ देव जैन तंत्र के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। ऋषभ देव के पुत्र को नागराज ने आकाशगामिनी विद्या दी थी। इसी प्रकार गंधर्व और पनगों को भी नागराज ने ४८ हजार विद्याएं दी थीं। इसका वर्णन वसुदेवहिण्डी के चौथे लम्बक में प्राप्त होता है। विद्याओं के धारक विद्याधर होते हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में ५०० महा-विद्याओं तथा ५०० विद्याओं का वर्णन है। श्वेताम्बर ग्रन्थ—समवायांग के विद्यानुवाद में १५ वस्तुएं ली गई हैं। जैनाचार्यों के चार कुलों में एक विद्याधर कुल था। विद्या-चारण मुनि और ऋद्धिवाले मनुष्यों में चरण सिद्धि प्राप्त होते थे। सिद्धियां, लब्धि, तप द्वारा प्राप्त होती हैं। स्त्रीदेवताधिष्ठित विद्या जपादिसाध्य तथा पुरुषदेवताधिष्ठित विद्या मंत्रपाठसाध्य मानी गई हैं।

तंत्र सम्प्रदाय का प्रवर्तन तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ से अधिक पुष्ट रूप में हुआ। निश्चीय सूत्र एवं कुछ अन्य आगमों में सर्वप्रथम नमस्कार मंत्र और उसकी साधना पर विशेष बल दिया गया है। सूरिमंत्र एवं अन्य कतिपय विद्याओं का उल्लेख भी इन ग्रन्थों में है। पउमचरित, वसुदेवहिण्डी, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रन्थों में विद्याओं का वर्णन है। उत्तरकाल के आचार्यों में श्री सिंहतिलकसूरि ने 'मंत्रराज रहस्य' तथा 'तंत्रलीलावती' का प्रणयन किया। श्री जिनप्रभसूरि को पद्मावती देवी के वर से मंत्र-तंत्रादि का ज्ञान मिला, जिनका संग्रह 'रहस्य कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में हुआ। श्री हलाचार्य का 'ज्वालानीमत' इस परम्परा का उत्तम ग्रंथ है। इसमें मंत्रों, ग्रह, मुद्रा, मंडल, कटुतैल, वश्य मंत्र, सुगंध, स्नपन विधि, नीरांजन विधि और साधना विधि नामक दस अधिकार हैं।

श्री सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक देव, जिनदत्तसूरि, मुनिगुणाकर, कुन्दकुन्दाचार्य, हेमचन्द्राचार्य इन्द्रनन्दि आदि अनेक आचार्यों का जैन तंत्र साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है। अनेक मंत्र-गर्भ स्तोत्र, उवसग्गहर, नमिऊण, लघुशांति, भक्तामर, कल्याण मंदिर आदि इस दिशा में उत्तम सहायक हैं। सिद्धचक्र और ऋषि-मंडल मंत्रों का प्रचार भी पर्याप्त हो रहा है। भैरव पद्मावती कल्प, सूरिमंत्रकल्प, अर्जुनपताका, नमस्कार मंत्र, मंत्र चिन्तामणि आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'विद्यानुशासन' है। इस एक ही नाम की रचना विभिन्न आचार्यों ने की है यथा इन्द्रनन्दि, मल्लिषेण, सुकुमार सेन तथा मतिसागर आदि। मल्लिषेण रचित विद्यानुशासन ११ वीं शती का एक उत्तम ग्रंथ है। इसमें २४ अधिकार तथा पांच हजार पद्य हैं। इसकी विशेषता यह है कि तंत्रशास्त्र में ग्राह्य सभी विषयों का यथावत् समाकलन इसमें किया गया है।

जैनाचार्यों ने यंत्र-मंत्रादि से युक्त एक विशिष्ट साधनामार्ग को 'तंत्र' कहा है। महान तंत्रज्ञ नागार्जुन एक राजकुमार थे, किन्तु उनकी माता नागकन्या थी। कहा जाता है कि एक बार एक राजकुमार शिकार खेलने के लिये आबू पर्वत पर गया वहां नागमती नामक नागराज कन्या अपनी सखियों के साथ क्रीडा कर रही थी। राजकुमार उसे देखकर मुग्ध हो गया और राजकुमार पर नागमती। परस्पर आकर्षण की परिणति नागार्जुन नामक पुत्र के रूप में हुई जो बाद में बड़ा होने पर एक महान तांत्रिक हुआ। इसने अपने द्वारा सिद्ध किए हुए तांत्रिक प्रयोगों का संग्रह एक तंत्र में किया और उसे वह सदा अपनी कांख में ही रखता था। इसके आधार पर उसका नाम कसपुटी हो गया। नागार्जुन को बौद्ध, जैन—दोनों श्रमण संघों ने अपने अपने मत का अनुयायी माना है।

जैन साहित्य भण्डारों में अनेक हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं, जिनका तंत्र की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। आवश्यकता है उन्हें प्रकाशित और प्रचारित करने की। आशा है, इस ओर विद्वानों का ध्यान आकषित होगा और जैन तंत्र साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार हो सकेगा।

—(डा० अशोक सहजानंद)

निदेशक, के. एस. फाउंडेशन

बी-५/२६३ यमुना नगर दिल्ली—१९०५३

जैन धर्म एवं पर्यावरण

■ सुरेश जैन

पृथ्वी तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जीव एवं अजीव दो ही प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं। जीवों को वैज्ञानिक आधार पर वनस्पति एवं प्राणियों में बांटा गया है। जबकि जैन धर्म में ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर 'जीव' को विभक्त किया गया है। निर्जीव पदार्थों में हवा, प्रकाश, ऊर्जा आदि आते हैं। जैसा कि सर्वविदित है कि सभी जीवों की संरचना विभिन्न निर्जीव पदार्थ कार्बन नाइट्रोजन, सल्फर, फास्फोरस आदि एवं एक अजर-अमर ऊर्जा—आत्मा के सहयोग से हुई है। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड पर उपस्थित सभी निर्जीव एवं जीव पदार्थों में एक बहुत ही जटिल तथा न टूटने वाला सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना पुराना है जितना कि इस पृथ्वी एवं ब्रह्माण्ड का इतिहास। यह सम्बन्ध दिन प्रतिदिन जटिल होता जाता है। इस जटिल एवं न टूटने वाले सम्बन्ध को किन्हीं भी अप्राकृतिक तरीकों से असंतुलित करना सभी पदार्थों, यहाँ तक की मनुष्य जीवन से खिलवाड़ करना है। करोड़ों वर्षों से बने जीवों एवं निर्जीवों के सम्बन्ध एवं प्राकृतिक संतुलन को सही ढंग से बनाये रखना ही मानव धर्म है, विश्व धर्म है, सभी जीवों का धर्म है।

पर्यावरण शब्द परि एवं आवरण दो शब्दों के मिलकर बना है जिसका सीधा मतलब है चारों तरफ पाये जाने वाला आवरण। हमारे चारों तरफ पायी जाने वाली सभी वस्तुएं हमारा पर्यावरण बनाती हैं। यह शरीर के बाहर जैसे हवा, पानी, ताप, पेड़-पौधे, विभिन्न जीव आदि एवं शरीर के अन्दर जैसे दिल, दिमाग एवं दूसरे अंग हो सकते हैं। जीवन में शरीर को बाहरी पदार्थों से सामंजस्य के लिए शरीर का आंतरिक पर्यावरण शुद्ध एवं सन्तुलित होना बहुत जरूरी है। वस्तुतः प्रकृति के नियम ही धर्म एवं स्वास्थ्य के नियम हैं, इसलिए इन नियमों के अनुसार रहने से स्वास्थ्य एवं संतुलित शरीर के साथ-साथ शुद्ध वातावरण भी मिलता है।

विज्ञान मानव मस्तिष्क की देन है एवं इसने शरीर को भौतिक आराम देने में काफी सफलता प्राप्त की है। आज का प्रदूषित पर्यावरण हमारी बढ़ती हुई भौतिक इच्छाओं एवं अपूर्ण शिक्षा का परिणाम है। आज का बढ़ता हुआ प्रदूषण आने वाली सन्तानों एवं सभी जीवों के लिये घातक है, इसलिये इसे प्राकृतिक एवं धार्मिक नियमों से युक्त शिक्षा द्वारा हटाना होगा। बच्चों को यह बताना होगा कि मानव इस विशाल प्रकृति का एक सूक्ष्म अंग है न कि इसका मालिक। हमें प्राकृतिक नियमों को पालकर सभी जीवों के साथ मिलकर रहना होगा। जैसा कि "परस्पोरोपग्रहो जीवानाम्" शब्दों से विदित है।

पर्यावरण सभी जीव एवं निर्जीव पदार्थों का संकलन है, उस की आवश्यकता सभी के लिए है। पर्यावरण संतुलन ब्रह्माण्ड में ऊर्जा-संतुलन के लिए भी जरूरी है। पर्यावरण में ऊर्जा असंतुलन का मतलब इस पृथ्वी एवं ब्रह्माण्ड का सर्वनाश है। आज के जीवन में भौतिक इच्छाओं की वृद्धि पर्यावरण में ऊर्जा संतुलन बिगाड़ रही है इसलिये अब हमें अपनी जीवन-पद्धतियों एवं भौतिक इच्छाओं में बदलाव लाना जरूरी है।

बढ़ती हुई भौतिक इच्छाओं को रोकने में जैन धर्म का बहुत बड़ा योगदान है। बढ़ती हुयी भौतिक वस्तुओं के प्रति लालसा एवं अपूर्ण शिक्षा ने प्रदूषित पर्यावरण को जन्म दिया है। शिक्षा द्वारा आने वाली पीढ़ियों को प्रकृति के हिस्सेदार एवं रक्षक बनाने के लिए वातावरण बनाना होगा। शिक्षा पर्यावरण से एवं शिक्षा, पर्यावरण के बारे में होनी चाहिये। शिक्षा खासकर पर्यावरणीय शिक्षा में वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक यहां तक कि धार्मिक सिद्धांतों का समावेश होना जरूरी है। जैन धर्म में इस प्रकार की शिक्षा का समावेश काफी हद तक मिलता है।

जो संसार को दुःखों से निकालकर सुख में पहुंचा दे वह धर्म है। धर्म आत्मा का स्वभाव है। धर्म मानव को जीवित रखने वाला तरीका है। धर्म विश्व को सुरक्षित रखने का साधन है। जैन धर्म आधुनिक विज्ञान तथा प्रकृति के नियमों से पूर्ण रूप से मेल खाता है। यह आत्मवादी है, पुरुषार्थवादी है, समतावादी है एवं आत्मजय की बात करता है। इसलिए इसे किसी विशेष जाति, क्षेत्र काल अथवा वर्ग की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता है। जहां जहां आत्मा का निवास है वहां वहां इस धर्म की पहुंच है। आत्मा के चारों तरफ आठ कोण हैं। उसके चारों तरफ पौद्गलिक संरचना है जो आत्मा को घेरे में बांधे है। आत्मा का पहला घेरा है कर्म जो उसे प्रभावित करता रहता है। इसलिए अपने कर्मों को सुधारें। भौतिक शरीर के अंदर आत्मा से परिचय करना, आत्मा को शक्तिशाली ज्ञान, दर्शन, बल से सम्पन्न बनाना और उसकी अनन्त शक्तियों को बढ़ाना—यह जैन धर्म की शिक्षा है। इस प्रकार जैन धर्म मानव धर्म अथवा आत्मा का धर्म है। आत्म-धर्म है जो सभी प्राणियों के संरक्षण की बात करता है।

जैन शब्द 'जिन' से बना है जिसका अर्थ है अपने आप की इच्छाओं को जीतना, इन्द्रियों को काबू में रखना जिससे जीवन प्रकृति से समन्वित होकर चले। धर्म आदमी को सही जीवन जीना सिखाने के साथ-साथ आत्मा, परमात्मा एवं मोक्ष की बात करता है। सही जीवन जीने के लिए क्या खायें, कैसे खायें, क्या एवं कैसे बोलें, कैसे एक दूसरे के साथ रहें आदि व्यावहारिक बातों का ज्ञान आवश्यक है। सही जीवन के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र होना जरूरी है। धर्मशील बनने के पांच मूल सिद्धांत हैं जो सभी धर्मों में भी मान्य हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य) ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। परिशुद्ध आत्मा को ही परमात्मा मानना जैन धर्म की मान्यता है। प्रत्येक प्राणी में आत्मा को शुद्ध करके परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है।

जैन धर्म परम वैज्ञानिक धर्म है। प्राकृतिक प्रदूषण को रोकने के लिये जैन धर्म के

अनुसार पांच स्थावर जीवों-पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा एवं वनस्पति की भी हिंसा नहीं होनी चाहिये। अहिंसा मुख्य आधार है। जैन धर्म जीवन का अस्तित्व केवल आदमियों, पशुओं एवं कीड़ों, मकोड़ों में ही नहीं मानता अपितु पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा एवं वनस्पति में भी मानता है। हमको किसी के जीवन-मरण के साथ नहीं जुड़ना चाहिये। जैन धर्म द्रव्य-हिंसा, भाव-हिंसा एवं काय-हिंसा को गलत मानता है। जैन साधना पद्धति असंदिग्ध रूप से एक ऐसी साधना पद्धति है जो प्रकृति के संतुलन में जरा भी बाधक नहीं बनती। जैन धर्म प्रदूषण का नितांत निषेधक है। धर्म के अनुसार शरीर स्वस्थ एवं आवेगमुक्त होना चाहिये। जैन धर्म आत्म-विज्ञान है! इस प्रकार यह धर्म एक आचार पद्धति है। हर आचार पहिले विचार होता है इसलिये विचार की शुद्धि परम आवश्यक है। धर्म विशुद्ध चेतना है और वह चेतना से उत्पन्न होता है। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत बहुत ही गूढ़, गंभीर एवं ग्राह्य है। जैन जीवन सादा, सरल एवं सपाट है। इसमें विविधताओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इसीलिये कहा गया है कि “कर्मान्तरायान् जयतीति जिनः” अर्थात् जो कर्म रूपी शत्रुओं को जीत लेता है वह जिन है तथा जिनो देवता अस्थेति जैनः अर्थात् उसके उपासक जैन हैं। धर्म के बारे में कहा जाता है कि “संसार दुःख तप्तान् सत्त्वान् यो उत्तमे सुखे धरतीति-धर्मः” अर्थात् जो संसार के दुःखों से जीवों को निकालकर उत्तम सुख में पहुंचा दे वही धर्म है। इस प्रकार ब्रह्मांड पर सभी स्थावर एवं अस्थावर जीवों की हिंसा का इस धर्म में निषेध है। रागादि भावों की उत्पत्ति ही एक प्रकार की हिंसा है। काय-हिंसा में पृथ्वी, जल एवं वनस्पति को एक इन्द्रिय जीव मानकर इनकी सुरक्षा करना धर्म है। इसीलिये कहा गया है “धर्मस्य मूलं दया” अर्थात् दया धर्म की जड़ है। जैन धर्म में भगवान् महावीर ने वनस्पति की हिंसा, वायुकायिक हिंसा, तेजसकाय हिंसा (धूम्रपान से), अग्निकाय जीव-हिंसा, पृथ्वीकाय हिंसा आदि का वर्णन बड़े ही अच्छे ढंग से किया है। भगवान् महावीर ने शोर-प्रदूषण का उल्लेख (आचरांग ४-५१ में) “जं सम्मति पासह तं मोणांति परसह” जैसे शब्दों से किया है जिसका अर्थ मौन ही सत्य है। धर्म में पांच महाव्रतों (अहिंसा, अचौर्य, असत्य, अपरिग्रह, एवं ब्रह्मचर्य पालन)। दसधर्म (क्षमा, संयम, तप, त्याग, शौच आदि) एवं सोलह कारण भावनाओं के अनुसरण पर जोर दिया गया है। अहिंसा विश्व शांति का आधार है। स्वामी समन्तभद्र के अनुसार „अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्” अर्थात् समाज एवं व्यक्ति के जीवन का प्रधान अबलम्बन अहिंसा है। अहिंसा आत्मा का स्वभाव है इसलिये आत्मा को जानने की कोशिश स्वाध्याय से करें। अहिंसा के सिद्धांतों पर कार्यरत होने से दलाईलामा को सन् १९८९ में नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया है।

पिछले पांच छः दशकों के दौरान विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से आधुनिक भोगवादी सभ्यता को प्रोत्साहन मिला जिससे मानव के दृष्टिकोण में प्रकृति एवं अन्य जीवों के प्रति एक बुनियादी परिवर्तन ला दिया है। प्रकृति अब पूज्य एवं सहभागी न होकर एक संसाधन मात्र रह गयी है एवं मनुष्य उसका स्वामी बन गया है। उसने प्रकृति पर काबू पाने की शक्ति एवं साधन जुटा लिये हैं एवं अपने आपको अन्य जीव जन्तुओं से

बड़ा मानकर सभी साधनों का बिना किसी प्राकृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक नियमों को पाले दोहन शुरू कर दिया है। हमने वैभव एवं नगरीकरण को विकास का मापदंड मानकर जीवन पद्धति बदल ली है। इसके हिसाब से जो मनुष्य जितनी अधिक ऊर्जा का उपयोग करता है वह उतना ही समाज में सम्मानित व्यक्ति होता है। औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के साथ साथ पर्यावरण-प्रदूषण हुआ है। जिसने बड़ी समस्या बनकर सम्पूर्ण मानव जाति के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है। हम अब तकनीकी मंडल में, जिसमें आक्सीजन की आवश्यकता पहले से २५ गुना अधिक है कितने दिन सांस ले पायेंगे कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस भोगवादी सभ्यता ने मनुष्य को तीन तोहफे दिये हैं—प्रदूषण, भूखमरी एवं युद्ध। आजकल वनों की तबाही ५० हैक्टेयर प्रति मिनट के हिसाब से हो रही है। प्रदूषण की वजह से सम्पूर्ण जीवों की करीब २५ प्रतिशत प्रजातियाँ इस पृथ्वी से समाप्त हो गयी हैं। भगवान् महावीर, गौतम बुद्ध एवं गांधी के देश में भारतीय संविधान की धारा ४८ के होने पर भी प्रतिवर्ष करोड़ों दुधारू जानवरों को काटकर मांस पैदा किया जाता है। प्रदूषण से होने वाली हानियों की सूची बहुत बड़ी है जिसमें नई-नई बेइलाज बीमारियों, मानसिक तनाव, आपसी प्रेमभाव का अभाव एवं सामाजिक तनाव है। आज करीब ७० हजार हानिकारक दवाइयाँ बाजार में खुले आम बिक रही हैं। पृथ्वी के चारों तरफ की ओजोन पर्त में क्लोरोफिलीरो कार्बन एवं ऊँची एवं तेज गति के हवाई जहाजों से होने वाली हानि से पृथ्वी के सम्पूर्ण जीव जगत् को खतरा पैदा हो गया है। मानव-सभ्यता के इतिहास में ऐसा कोई काल नहीं रहा है जब स्वयं मनुष्य ने अपने पर्यावरण को इतना दूषित किया हो। इसका मुख्य कारण धार्मिक विचारों की कमी ही है।

आजकल हमारे पास ज्ञान तो बहुत है लेकिन व्यावहारिक बुद्धि की कमी है। सामाजिक एवं धार्मिक ग्रन्थों के अभाव में मनुष्य का मन बेकार की दौड़ धूप करने लगा है। जैसे-जैसे ज्यादा मिलता गया वैसे-वैसे ही मनुष्य ज्यादा माँगता गया। सन्तुष्ट न होकर भोग भोगने की इच्छा बढ़ती जा रही है। आज हम प्रकृति को संस्कारित नहीं बल्कि भोग-लिप्सा के साधनों का भंडार मानकर उसके साथ बलात्कार कर रहे हैं। प्रकृति को सुसंस्कारित करने से संस्कृति एवं दोहन से विकृति होती है।

हमको एक ऐसी जीवन शैली अपनानी होगी जिससे प्राकृतिक साधनों का दोहन एक दम रुक जाये। इसके लिए जैन धर्म के नियमों के अनुसार जीना होगा, सत्ता के स्थान सेवा, सम्पत्ति के स्थान पर श्रम, शास्त्र एवं विद्या के स्थान पर शांति एवं सदाचार अपनाना होगा। आत्म-संयम एवं आत्मशुद्धि का महत्त्व सबसे ज्यादा जैन धर्म में ही है। जैन साधना-पद्धति एक ऐसी साधना पद्धति है जो प्रकृति के संतुलन में जरा भी बाधक नहीं बनती। जैन धर्म प्रदूषण का नितांत निषेधक है। इस धर्म में स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ है।

जैसा कि सभी जानते हैं कि हमारी संस्कृति का जन्म अरण्यों में हुआ था। अंदर की दुनिया की खोज करना (आत्मज्ञान) विकास माना जाता था। हमारे महा-पुरुषों ने, साधु-संतों ने प्रकृति में जीवन होने का अनुभव किया है जो जैन धर्म में

बहुत ही अच्छे ढंग से वर्णित है। उन्होंने इस जीवन का आदर किया। यहां तक कि हमारे सभी तीर्थंकरों के चिह्न एवं केवल-ज्ञान स्थान प्राणियों एवं वृक्षों से संबंधित है। राजस्थान में करीब ५०० वर्ष पूर्व से स्वीकृत विश्वोई समाज के बीस एवं नौ नियमों में पशुपक्षी नहीं मारना, हरा वृक्ष नहीं काटना प्रमुख नियम हैं। 'माता भूमि: पुत्रोऽहम् पृथिव्या'—पृथिवी हमारी माता है एवं हम सब उसके पुत्र हैं। इस बात पर जोर देना होगा।

इसलिये अब हमको जैन जीवन पद्धति अपनाकर प्रदूषित पर्यावरण को रोकने का संकल्प करना होगा। इस धर्म को जीवन से जोड़ना चाहिए। अगर हम चाहते हैं कि हमारी आने वाली संतान इस पृथ्वी पर आये एवं सम्पूर्ण सुखमय जीवन जीये तो अब हमें प्रकृति संरक्षक जैन धर्म के "सिद्धांतों पर जीना आरम्भ करना होगा।" तभी हम भोगवादी सभ्यता के वशीभूत होकर अपनी संतानों के हत्यारे बनने से बच सकेंगे। 'जीओ और जीने दो' एवं 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धांतों को व्यवहार में लायें। अहिंसा एक व्रत है। यह सुख शांति का दूसरा नाम है।

(डॉ० सुरेश जैन)

क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान
एन. सी. ई. आर. टी.
अजमेर-३०५००४

अनेकान्तवाद की सार्वभौमिकता

■ सुभाषचन्द्र सचदेवा

‘अनेकांतवाद’ का सिद्धांत अत्यन्त पुरातन है। और उसे एक विशिष्ट वैचारिक पद्धति के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय जैन दर्शन को प्राप्त है। ‘अनेकांतवाद की पूर्वभूमिका में अन्तर्दृष्टि का एक विशिष्ट स्थान है। अन्तर्दृष्टि के उदय होने पर सम्यग्दर्शन का उन्मेष होता है, पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह का नाश हो जाता है, परिणामतः अनेकांतवाद प्रकाशित होता है।’

‘अनेकांतवाद’ जैन दर्शन की अमूल्य देन है जिसके सौजन्य से मानव का हृदय विशाल और दृष्टि निर्मल एवं निष्पक्ष बनती है। विषय से विषमता और विद्वेष को दूर करने का सन्देश प्राप्त होता है। ‘अनेकांतवाद’ वह समन्वय का मार्ग है जो अपनी बात अथवा तथ्य को सत्य मानने के साथ-साथ ही अन्य बातों को भी सत्य स्वीकार करने में संकोच नहीं करता। इस सिद्धांत से किसी भी विचारधारा को विवेचनात्मक प्रणाली से समझ लेने की सहिष्णुता और तथ्य को ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न होती है।’

‘अनेकांतवाद’ को सम्यक् रूप से समझने हेतु ‘स्याद्वाद’, का आश्रय लेना अनिवार्य है। स्याद्वाद, अनेकांतवाद का नामान्तरण ही है।

स्यात् शब्द

कुछ लोग ‘स्यात्’ का अर्थ ‘शायद’ समझते हैं; परन्तु यह सर्वथा भ्रामक है। ‘शायद’ अनिश्चितता का द्योतक है; परन्तु स्याद्वाद एक निश्चित सिद्धांत का सूचक है। इसी प्रकार कुछ विद्वान् ‘स्यात्’ का अर्थ ‘कदाचित्’ या ‘सम्भावना’ करते हैं; परन्तु ‘कदाचित्’ अथवा ‘सम्भावना’ आदि ‘संशय’ की ओर संकेत करते हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि ‘स्याद्वाद’ संशय नहीं अपितु सुनिश्चित सिद्धांत का वाचक है।

संभवतः ‘स्याद्वाद’ को सम्यक्तया न समझने के कारण डॉ० सर्वपल्ली राधा कृष्णन् ने ‘स्याद्वाद’ को अर्धसत्य का ग्राहक स्वीकार किया है। यथार्थ की कसीटी पर परखने से डॉ० राधा कृष्णन् की यह धारणा सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध होती है। वास्तविकता यह है कि स्याद्वाद के द्वारा ही वस्तु का पूर्ण ज्ञान हो सकता है। स्याद्वाद का आश्रय लिए बिना जो वस्तु का ज्ञान होता है, वह आंशिक, अपूर्ण एवं अर्धसत्य होता है, क्योंकि स्याद्वाद वस्तु के अनन्त धर्मों की अनन्त दृष्टियों के व्याख्या करता है।

जैन दर्शन में ‘स्यात्’ एक विशेष अर्थ को छ्वनित करता है। इसका अर्थ है—

‘सापेक्ष कथंचित् ।’ ‘स्याद्वाद’ अपेक्षावाद (अथवा सापेक्षता) का सिद्धांत है, जिसे अंग्रेजी में ‘थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी’ कहा जा सकता है ।^१

‘स्यात्’ इस तथ्य को प्रकट करता है कि पदार्थ के जिस धर्म का निरूपण किया जा रहा है; वह ‘सापेक्ष’ है अर्थात् इसके अतिरिक्त भी धर्म इस पदार्थ में हैं किन्तु वे विवक्षित नहीं हैं, अतः गौण हैं । इसके अतिरिक्त ‘कथंचित्’ अर्थ की सिद्धि करता हुआ ‘स्यात्’ इस तथ्य की उद्भावना करता है कि ‘वाक्यादि में जो बात कही जा रही है, वह किसी विशेष दृष्टि से कही जा रही है ।’

‘स्याद्वाद’ में विधि एवं निषेधपरक सात भङ्गों (सप्तभङ्गीन्याय) का इस प्रकार विवेचन किया जाता है:—१. स्याद् अस्ति २. स्याद् नास्ति ३. स्याद् अस्ति-नास्ति ४. स्याद् अवक्तव्य ५. स्याद् अस्ति अवक्तव्य ६. स्याद् नास्ति अवक्तव्य ७. स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ।

अब इनकी क्रमशः लौकिक दृष्टांत के साथ पुष्टि की जा रही है:—

१. स्यात् अस्ति घटः, अर्थात् किसी अपेक्षा से घट है । घट का अपने द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव आदि की अपेक्षा से अस्तित्व है ।
२. स्याद् नास्ति घटः, अर्थात् किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा से घट नहीं है । दूसरे पदार्थ के द्रव्य, काल, भाव एवं क्षेत्र आदि की दृष्टि से घट नहीं है । घट में घट भिन्न पदार्थ का भेद है । अतः घट भिन्न पदार्थ की दृष्टि से घट नहीं है ।
३. स्याद् अस्ति नास्ति घटः, अर्थात् किसी दृष्टि से घट है भी और नहीं भी है । घट स्वरूप की दृष्टि से है तथा पर रूप की दृष्टि से नहीं है, अर्थात् अपने क्षेत्र, काल द्रव्य आदि की दृष्टि से है परन्तु दूसरे क्षेत्र, काल, द्रव्य एवं भाव आदि की दृष्टि से नहीं है, अतः घट उभय रूप (अस्ति, नास्ति) है ।
४. स्यात् अवक्तव्यो घटः, अर्थात् घट अवक्तव्य है । घट का रंग काला तथा लाल दोनों हैं । पकने से पहले घट काले रंग का है तथा लाल रंग का नहीं हैं (स्यात् घटो अस्ति तथा स्यात् घटो नास्ति), पकने के बाद लाल रंग का है तथा काले रंग का नहीं है; परन्तु जिस क्षण घट पक रहा है (काले से लाल रंग में बदल रहा है) तब अस्ति-नास्ति दोनों है । अस्ति-नास्ति की विवक्षा मुख्य रूप से एक साथ नहीं हो सकती । अतः घट का रंग अवक्तव्य है ।
५. स्याद् अस्ति अवक्तव्यो घटः, अर्थात् किसी अपेक्षा से घट का अस्तित्व है तथा घट अवक्तव्य भी है । किसी दृष्टि से (द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की दृष्टि से) घट का अस्तित्व है, परन्तु जब इनका स्पष्ट निर्देश न हो तो घट अवक्तव्य है । उदाहरणार्थ— घट लाल रंग का है, परन्तु जब रंग का स्पष्ट निर्देश न हो तब घट अवक्तव्य है ।
६. स्याद् नास्ति अवक्तव्यो घटः, घट अपने से भिन्न पदार्थ के क्षेत्र, द्रव्य एवं काल आदि की दृष्टि से नहीं है तथा इनका स्पष्ट निर्देश न होने के कारण अवक्तव्य भी है ।
७. स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यो घटः, अर्थात् किसी अपेक्षा से घट है, नहीं है तथा अवक्तव्य है । घट स्वद्रव्य, काल, क्षेत्रादि की दृष्टि से है, पर द्रव्य, काल क्षेत्रादि से नहीं है । इनका स्पष्ट निर्देश न होने के कारण अवक्तव्य भी है ।

उपर्युक्त सात भङ्गों के माध्यम से यह सिद्ध होता है कि एक ही पदार्थ के विरोधी धर्मों का संकेत किसी अपेक्षा से ही होता है। 'स्याद्वाद' की यह भाषा प्रणाली जब चिन्तन की सारणी में पदार्पण करती है तो 'अनेकांतवाद' की संज्ञा को प्राप्त करती है।

'स्याद्वाद' की आधार शिला पर अबलम्बित यह अनेकांतवाद इस तथ्य को उजागर करता है कि लौकिक दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर किसी भी पदार्थ के एक-एक धर्म को पकड़ कर उसकी यदि व्याख्या की जाए तो इस व्याख्या को अन्तिम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है।

परम सत्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। परम सत्य अनन्त मुख है, अतः सत्य का अनुगमन करने वाली कोई एक विशेष धारणा अन्तिम अथवा पूर्णतम नहीं कही जा सकती है। देश, काल, अवस्था एवं व्यक्ति की स्थिति के अनुसार सत्य प्राप्त के भिन्न भिन्न मार्ग अथवा साधन हैं, जिन्हें एक दूसरे की अपेक्षा उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट नहीं कहा जा सकता। अतः सभी मार्ग एवं उपासना-पद्धतियाँ अपनी-अपनी जगह सही हैं। किसी एक मार्ग अथवा विशिष्ट पद्धति को ही पूर्णतम (अन्तिम) मानना कूपमण्डूकता है।

अनेकांतवाद की उपयोगिता व्यावहारिक क्षेत्र में भी है। आज के बदलते परिवेश में व्यक्ति के पारिवारिक, सामाजिक एवं नैतिक जीवन में वैचारिक स्वतंत्रता की धारणा अनिवार्य प्रतीत हो रही है, और वैचारिक स्वतंत्रता का मूल है—'अनेकांतवाद'। किसी ज्ञानाचार्य ने अनेकांतवाद का अभिनन्दन करते हुए कहा 'जिसके बिना लोक-व्यवहार को सुविधापूर्वक नहीं चलाया जा सकता, उस जगद्गुरु अनेकांतवाद को नमस्कार है।'

यद्यपि वेद में 'अनेकांतवाद' जैसे शब्द का प्रयोग कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता; तथापि चिन्तन की उदारता (अनेकांतवाद) के सूत्र अवश्य प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से वैदिक परम्परा भी 'अनेकांतवाद' से अनुप्राणित प्रतीत होती है।

ऋग्वेद की एक ऋचा में परम सत्य के अनेक रूप और उसकी प्राप्ति के अनेक मार्गों का संकेत देते हुए कहा गया है कि यह सत्य (या परमात्मा) अविकारी रहते हुए भी इन्द्र, वरुण, मित्र, सुपर्ण, गरुत्मान् आदि अनेक रूपों में व्यक्त होता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुषों ने उस एक ही परमसत्य का अनेक प्रकारों से निरूपण किया है।¹ वेद की उक्त स्वतंत्र विचार पद्धति को आधार बनाकर शैव, वैष्णव, शाक्त, कापालिक, गणपत्य, सौर एवं वारुण आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सभी सम्प्रदायों की उपासना पद्धति एवं दार्शनिक सिद्धांतों में परस्पर वैषम्य होने पर भी वैचारिक दृष्टि से एकता बनी रही, क्योंकि इन पर 'अनेकांतवाद' के रूपांतर 'एकं सद्बिप्रा बहुधा वदन्ति' का सबल अंकुश विद्यमान था।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' की धारणा के आधार पर वेद की सामञ्जस्यपूर्ण एवं स्वतंत्र वैचारिक पद्धति का अनुसरण करते हुए शिवपुराण, विष्णु-पुराण, नारदपुराणादि अनेक पुराणों एवं अन्य व्याख्यापरक धर्मग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इन पुराणों एवं ग्रन्थों ने परमेश्वर के विभिन्न स्वरूपों को एक ही परमसत्ता के विविध

(विष्णु, शिव एवं दुर्गा आदि) वाचक मानते हुए वैचारिक सद्भावना एवं उदारता को अक्षुण्ण रखा ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'अनेकांतवाद' को सुनियोजित ढंग से प्रतिष्ठापित करने का श्रेय जैन दर्शन को प्राप्त होता है । चिन्तन की उदारता एवं पर दृष्टि के प्रति आदरभाव के स्वर को मुखरित करता हुआ 'अनेकांतवाद' प्रकारांतर से वैदिक परम्परा में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की धारणा के रूप में पल्लवित हुआ है । अतः निष्पक्ष भाव से विचार करने पर अनेकांतवाद की सार्वभौमिकता सिद्ध होती है ।

संदर्भ

- (१) 'जैन योन,' युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ० ८५
- (२) 'स्याद्वाद' की सार्वभौमिकता,' ले० पं० फतेहसागर जैन पृ० ९० ।
- (३) इण्डियन फिलोसोफी—डॉ० राधाकृष्णन् वोल्यूम-१, पृ० ३०५-६
- (४) 'जिणधम्मो,' ले० आचार्य श्री नानेश, पृ० २१६ ।
- (५) येन विना लोकव्यवहारो सुविधापूर्वकं सम्पादयितुं न शक्यते ।
तस्मै जगद्गुरवे अनेकांतवादाय नमः ॥
- (६) 'इन्द्रं मित्रं वरुमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

ऋग्वेद, १।१६४।४६

—(डॉ० सुभाषचन्द्र सचदेवा)
१३, म्युनिसिपल कॉलोनी
सोनीपत (हरियाणा)

वैदिक साहित्य में तत्त्व विचार

▣ राजवीरसिंह शेखावत

तत्त्व-विचार^१ अथवा जगत् के मूल कारण की समस्या प्रारम्भिक भारतीय दर्शन की एक प्रमुख समस्या रही है, जिसके समाधान को लेकर भारतीय दर्शनिकों में मतभेद नहीं है। वैदिक साहित्य^२ में भी, 'तत्त्व'^३ अथवा जगत् का मूल कारण क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में कोई एक सर्वमान्य मत या मान्यता नहीं है, अपितु अनेक विरोधी मत या मान्यताएँ हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न तत्त्वों को जगत् का मूल कारण माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण^४ में 'असत्' को जगत् का मूल कारण माना गया है तथा कहा गया है कि पहले कुछ नहीं था, न स्वर्ग था, न पृथ्वी थी, न आकाश। 'असत्' था, उसने पहले मन को उत्पन्न किया और उससे अन्य विषयों को। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भी पहले 'असत्' था।^५ वह ऋषि और प्राण रूप था। सात प्राणों से प्रजापति की उत्पत्ति हुई और प्रजापति से अन्य विषयों की। उपनिषदों में भी कुछ ऐसे अवतरण हैं जिनमें असत् को जगत् का मूल कारण माना गया है तैत्तिरीय उपनिषद्^६ के अनुसार जगत् तथा उसके विषयों की उत्पत्ति के पूर्व आदि में 'असत्' की सत्ता थी। उस असत् से सत् उत्पन्न हुआ और सत् ने स्वयं को स्वयं द्वारा जगत् के विभिन्न विषयों के रूप में प्रकट किया। छांदोग्य उपनिषद्^७ के अनुसार आदि में एक 'असत्' की सत्ता थी। असत् ने अपने को सत् के रूप में परिणत किया। सत् ने एक विशाल अंडे का रूप धारण किया, जो एक वर्ष तक उसी अवस्था में पड़ा रहा। फिर वह टूटा, जिससे अन्य विषयों की उत्पत्ति हुई। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी, यद्यपि अस्पष्ट एवं अप्रत्यक्ष रूप से "असत्" को स्वीकार किया गया है। उसमें कहा गया है कि वस्तुओं के आदि में किसी वस्तु की सत्ता नहीं थी, वरन् प्रत्येक वस्तु पर "मृत्यु" या "क्षुधा" का आवरण था।^८ यहाँ प्रश्न उठता है कि "मृत्यु" और "क्षुधा" से क्या तात्पर्य है ? क्या मृत्यु और क्षुधा एक है या भिन्न ? क्या मृत्यु और क्षुधा को असत् मानना युक्तिसंगत है ? आदि प्रश्न उठते हैं। दूसरे, बृहदारण्यक उपनिषद् के इस मत में विरोध है, क्योंकि उसमें कहा गया है कि वस्तुओं के आदि में किसी वस्तु की सत्ता नहीं थी, वरन् प्रत्येक वस्तु अथवा क्षुधा का आवरण था। जब किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं थी, तब प्रत्येक वस्तु पर मृत्यु का आवरण था, का क्या अर्थ है ? अर्थात् इसमें एक ओर वस्तुओं की सत्ता का निषेध किया गया है, वहीं दूसरी ओर वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार किया गया है, जो युक्तिसंगत नहीं है।

यदि असत् को जगत् का मूल तत्त्व माना जाय, तब प्रश्न उठता है कि असत्^९ से

सत् को उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?^{१०} अभाव से भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है ? अर्थात् जगत् का मूल कारण या तत्त्व “असत्” नहीं, “सत्” ही हो सकता है । ऋग्वेद^{११} के दीर्घतमा ऋषि ने जगत् के मूल कारण को “सत्” माना है^{१२} तथा “सत्” को एक । जैसा कि कहा गया है कि “सत्” तो एक है, किन्तु विद्वान् उसका वर्णन कई प्रकार से करते हैं ।^{१३} छांदोग्य उपनिषदीय दार्शनिक आरुणि का मत है कि मूल तत्त्व “असत्” नहीं हो सकता, क्योंकि “असत्” से “सत्” की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । अतः तत्त्व “सत्” है ।^{१४} आरुणि के अनुसार आदि में सब कुछ “सत्” था, जो एक और अद्वितीय था । उस “सत्” ने एक से अनेक रूप होने का विचार किया और ऐसा विचार करके उसने “तेज” को उत्पन्न किया । फिर “तेज” ने अनेक रूप होने का विचार किया और “जल” को उत्पन्न किया । “जल” ने अनेक रूप होने का विचार करके “पृथ्वी” को उत्पन्न किया । फिर “सत्” ने तीनों में तेज, जल और पृथ्वी में प्रवेश करके उन्हें नाम रूप दिया ।^{१५} यहां प्रश्न उठता है कि “तेज” तथा “जल” से क्या तात्पर्य है ? “जल ने विचार किया” अथवा “तेज ने विचार किया” का क्या अर्थ है ? क्या जल तथा तेज चेतन हैं या जड़ ? यदि वे जड़ हैं, तब वे विचार कैसे कर सकते हैं ? और यदि वे चेतन हैं तब उन्हें “जड़” क्यों कहा जाता है ? आदि ।

मुण्डक उपनिषद् में मूल तत्त्व सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय मिलता है । उसमें तत्त्व को सत् और असत् रूप बतलाया गया है ।^{१६} **मुण्डक उपनिषद्** में कहा गया है कि जितने भी चेष्टा करने वाले, श्वास लेने वाले और आंखों को खोलने-मूंदने वाले प्राणी हैं, वे सब तत्त्व में प्रतिष्ठित हैं, जो “सत्” और “असत्” रूप है^{१७}, अत्यन्त श्रेष्ठ तथा समस्त प्राणियों की बुद्धि से परे अर्थात् बुद्धि द्वारा अज्ञेय है ।^{१८} इसके विपरीत ऋग्वेद के “नासदीय सूक्त” के ऋषि ने तत्त्व को न सत् कहा और न असत् । वहां कहा गया है कि इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व न सत् था और न असत् । उस समय न परमाणु थे और न ही आकाश था । न मृत्यु थी और न अमृत था । न ही रात्रि और दिन का कोई चिह्न था ।^{१९} यहां प्रश्न उठता है कि फिर तत्त्व क्या है ? जो न सत् रूप है और न असत् रूप, उसका स्वरूप क्या है ? क्या जो सत् रूप है और न असत् रूप, उसे तत्त्व स्वीकार किया जा सकता है ? “नासदीय सूक्त” के ऋषि ने इस व्याख्या द्वारा तत्त्व की सत्ता को स्वीकार किया है या तत्त्व का निषेध ?

उपर्युक्त चर्चा में जगत् के मूल कारण या तत्त्व के रूप में “सत्” अथवा “असत्” दोनों को स्वीकार किया गया है या दोनों को स्वीकार नहीं किया गया है । इस चर्चा को लेकर प्रश्न उठता है कि “सत्” और “असत्” से क्या तात्पर्य है ? क्या होना ही सत् है और क्या नहीं होना असत् है ? सत् और असत् दोनों भावरूप है या अभाव रूप ? अथवा क्या सत् भावरूप और अभाव रूप है ? क्या असत् भाव रूप नहीं हो सकता है ? यदि असत् भावरूप है तब क्या ऐसा मानना युक्तिसंगत है ? और यदि असत् अभाव रूप है तब उससे जगत् तथा उसके विषयों की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ? यदि सत् और असत् भाव रूप है तब वे मूर्त हैं या अमूर्त ? सत् और असत् चेतन है या जड़ ? आदि प्रश्न उठते हैं, जिनका कोई तर्कसंगत समाधान नहीं मिलता है ।

दूसरे, ध्यान देने की बात यह है कि वेदों तथा उपनिषदों में जो सत् तथा असत्

की अवधारणाएँ हैं, इसे सभी दार्शनिकों ने एक ही अर्थ में नहीं लिया, अपितु भिन्न-भिन्न अर्थों में लिया है, अर्थात् सत् और असत् को वैदिक तथा उपनिषद् कालीन सभी दार्शनिकों ने एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया, अपितु उन्होंने अपनी-अपनी समस्याओं के अनुसार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया। किन्तु वे विभिन्न अर्थ क्या हैं, यह स्पष्ट नहीं है ?

स्पष्ट है कि ऊपर जो चर्चा की गई है उसमें जगत् के मूलतत्त्व सम्बन्धी सत् और असत् की अवधारणा एक अमूर्त कल्पना है, किन्तु कुछ अन्य दार्शनिकों ने जगत् के मूल तत्त्व को सत् रूप में अर्थात् भाव रूप में माना, किन्तु अमूर्त नहीं, मूर्तरूप में अर्थात् भौतिक या प्राकृतिक शक्तियों के रूप में। बृहदारण्यक उपनिषद् में “जल” को जगत् का मूल तत्त्व मानकर उसी से समस्त विषयों की उत्पत्ति मानी है। ध्यान देने की बात यह है कि उपनिषदों में, एक ही उपनिषद् में दो विरोधी मत या मान्यताएँ मिलती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वह उपनिषद् न तो किसी एक व्यक्ति द्वारा रचित है और न ही उसमें किसी एक मत या सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है, अपितु वह उपनिषद् अनेक दार्शनिकों के मतों या विचारों का संकलन है। अतः ऐसे उपनिषद् में मिलने वाले दो विरोधी मतों में विरोध नहीं। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में कहीं “असत्” को तत्त्व माना गया है, कहीं आत्मा को और कहीं जल को। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सृष्टि के आदि में केवल “जल”^{३३} की ही सत्ता थी। जल से सत्य की उत्पत्ति हुई। सत्य से “ब्रह्म”^{३३} की उत्पत्ति हुई। ब्रह्म से “प्रजापति” की उत्पत्ति हुई और प्रजापति से देवताओं की सृष्टि हुई। किन्तु उपनिषदों के कुछ अन्य अवतरणों में जल की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है।^{३३} इससे स्पष्ट होता है कि जल को जगत् का आदि कारण नहीं माना जा सकता है। यहां प्रश्न उठता है कि फिर जगत् का आदि कारण क्या है ? क्या जगत् का आदि कारण “अग्नि” है, क्योंकि जल की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है। यद्यपि किसी वेद अथवा उपनिषद् में स्पष्ट रूप से अग्नि को जगत् के मूल कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया, किन्तु कुछ अवतरण ऐसे हैं जिनके आधार पर, एक सीमा तक, अग्नि को जगत् के कारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। कठउपनिषद् में कहा गया है कि अग्नि ने विश्व में अन्तः प्रवेश करके विविध रूप धारण कर लिये।^{३४} ऐसा ही एक अवतरण, जो कि छांदोग्य उपनिषद् में मिलता है, उसमें अग्नि को आदि सत् से उत्पन्न मूल तत्त्व माना गया है।^{३४} छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार आदि सत् से प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई और अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।^{३५} यहां सम्भवतः जगत् के समस्त विषयों की उत्पत्ति अग्नि से होने के कारण अग्नि को तत्त्व या कारण माना जा सकता है। किन्तु उपनिषदीय दार्शनिक रैक्व ने अग्नि का निलय वायु में माना है,^{३६} जिससे सिद्ध होता है कि अग्नि जगत् का मूल कारण नहीं है। रैक्व ने सम्भवतः जगत् का मूल कारण “वायु” को माना है। यद्यपि उन्होंने निश्चित रूप से यह नहीं कहा कि वायु जगत् का मूल कारण या तत्त्व है, वरन् इस बात का संकेत किया कि “वायु” संपूर्ण जगत् का अन्त है। रैक्व^{३६} के अनुसार वायु^{३६} समस्त पहायों का चरम आश्रय है और अंत में

समस्त विषयों का “वायु” में लय हो जाता है।¹⁰ रैक्व के इन विचारों से यह फलित होता है कि “वायु” जगत् का मूल कारण है, क्योंकि जगत् का लय उसी में है और लय उसी में होता है जो उसका आदि कारण हो।

प्रश्न उपनिषद्¹¹ और तैत्तिरीय उपनिषद्¹² के कुछ ऐसे अवतरण हैं जिनमें स्पष्ट रूप से वायु की उत्पत्ति “आकाश” से मानी गई है। अब, यदि आकाश से उत्पन्न है तब प्रश्न उठता है कि वायु जगत् का कारण कैसे हो सकती है ? इस संदर्भ में प्रवाहण जैवालिन ने वायु को जगत् का मूल कारण नहीं, अपितु “आकाश” को मूल कारण माना है। उनके अनुसार समस्त विषयों की उत्पत्ति “आकाश” से होती है और अंत में आकाश में ही उनका निलय हो जाता है। आकाश चरम-गति है तथा अन्य विषयों से महान् है।¹³ इसके समर्थन में छांदोग्य उपनिषद् में एक अन्य अवतरण है जिसमें कहा गया है कि आकाश निस्सन्देह अग्नि से महान् है। सूर्य और चंद्र, विद्युत् और नक्षत्र आकाश के अन्तर्गत हैं और आकाश से समस्त विषयों का विधान है। आकाश को चरम-सत्य मानकर, उसी का चिंतन करना चाहिये।¹⁴

तत्त्व सम्बन्धी उपर्युक्त मतों के समर्थकों ने जल, अग्नि, वायु और आकाश में से किसी एक को तत्त्व या जगत् का मूल कारण माना है, एक से अधिक को नहीं माना और और न ही किसी ने “पृथ्वी” को जगत् का कारण या तत्त्व माना। किन्तु कुछ प्रत्यक्ष-वादी दार्शनिकों ने तत्त्व एक नहीं एक से अधिक माने। उन दार्शनिकों में से कुछ दार्शनिकों ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों को तत्त्व माना, किन्तु आकाश को नहीं माना। इनके विपरित कुछ अन्य दार्शनिकों ने चार तत्त्वों के साथ “आकाश” को भी तत्त्व माना तथा उनस जगत् के शेष विषयों की उत्पत्ति मानी।¹⁵ उन दार्शनिकों का मत है, ये तत्त्व अर्थात् महाभूत किसी कर्त्ता द्वारा निर्मित नहीं हैं और न ही ये अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य तत्त्व पर अपेक्षित हैं। ये स्वतंत्र एवं शाश्वत हैं। आदि और अन्त रहित हैं। जगत् के समस्त विषय उन्हीं से निर्मित हैं तथा वे ही समस्त क्रियाओं के आधार हैं।¹⁶

किन्तु तत्त्व सम्बन्धी महाभूतों की कल्पना द्वारा प्राणी जगत् की सुसंगत व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि प्राणियों के शरीर में कोई ऐसा तत्त्व है, जिसके रहने पर शरीर सक्रिय रहता है और उसके अभाव में पांच महाभूतों के रहते हुए भी शरीर निष्क्रिय हो जाता है। अतः कोई तत्त्व-विशेष होना चाहिए, जो शरीर का धारक हो प्रश्न है कि वह तत्त्व विशेष क्या है जो शरीर का धारक है ? इस समस्या के समाधान में पिप्लाद “प्राण” की कल्पना पर पहुंचे तथा “प्राण” को शरीर का धारक ही नहीं जगत् का परम तत्त्व भी माना। पिप्लाद के अनुसार प्राणियों के शरीर को आश्रय देकर धारण करने वाल तत्त्व “प्राण” है, क्योंकि जब शरीर से प्राण बाहर निकलता है तब अन्य सब¹⁷ भी शरीर से बाहर निकल जाते हैं तथा उसके ठहर जाने पर अन्य भी ठहर जाते हैं।¹⁸ सब कुछ प्राण के आश्रित है। जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में लगे हुए आरे, नाभि के आश्रित रहते हैं। उसी प्रकार समस्त विषय प्राण के आश्रित हैं।¹⁹ जगत् में जो कुछ है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, सत्, असत् तथा अमृत, वह

प्राण ही है।^{११} उपस्ति चाकायण ने भी “प्राण” को जगत् का परम तत्त्व माना है। उपस्ति चाकायण से जब यह पूछा गया कि समस्त पदार्थों का परम तत्त्व क्या है, तब उसने जवाब दिया कि “प्राण” समस्त पदार्थों का परम तत्त्व है, क्योंकि समस्त विषयों या सत्ताओं की उत्पत्ति उसी से होती है और उसी में उनका निलय।^{१२} उपनिषदीय दार्शनिक कौषीतकी ने भी “प्राण” को चरम सत्य माना, किन्तु भिन्न रूप में। कौषीतकी ने प्राण का तीन अन्य तत्त्वों से — “आयु”, “प्रज्ञा” और “आत्मा” से तादात्म्य स्थापित किया, जिसका निष्कर्ष यह है कि शारीरिक दृष्टि से प्राण “आयु” है, मानसिक दृष्टि से प्राण “प्रज्ञा” है और तात्त्विक दृष्टि से प्राण “आत्मा” है।^{१३} कौषीतकी के इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि जगत् का तत्त्व “आत्मा” है।

बृहदारण्यक उपनिषद्^{१४} में “आत्मा” को जगत् का मूल कारण या तत्त्व माना गया है। उसमें कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति के पहले केवल एक आत्मा की सत्ता थी। उस आत्मा को एक से दो होने की कामना हुई, जिसके फलस्वरूप उसने अपने को दो भागों में — एक स्त्री और दूसरा पुरुष में विभाजित कर लिया। फिर उन दोनों से अन्य प्राणियों की उत्पत्ति हुई। बृहदारण्यक उपनिषद् में, जगत् की इस उत्पत्ति प्रक्रिया में, जड़ तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है।^{१५} अतः प्रश्न उठता है कि क्या जड़ तत्त्वों की उत्पत्ति आत्मा से होती है या नहीं? इस समस्या का समाधान हमें तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलता है। उसमें कहा गया है कि पहले आत्मा थी।^{१६} उससे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी, पृथ्वी से समस्त औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पृथ्वी लोक का आश्रय लेकर रहने वाले प्राणी^{१७} उत्पन्न हुए। ऐतरेय उपनिषद्^{१८} में भी आत्मा को जगत् का मूल कारण मानकर, उसी से जगत् के अन्य विषयों की उत्पत्ति मानी है। उसकी विशिष्टता यह है कि उसमें आत्मा से विभिन्न लोकों की उत्पत्ति की कल्पना की गई है।^{१९}

जसा कि ऊपर कहा गया है कि जगत् का मूल कारण या तत्त्व “आत्मा” है, उसी से जगत् के विषयों एवं पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि चेतन आत्मा से जड़ महाभूत कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? सम्भवतः इसी समस्या के कारण कुछ अन्य दार्शनिकों^{२०} ने जगत् के मूल तत्त्व के रूप में, महाभूतों की उत्पत्ति नहीं मानकर, पाँच महाभूतों एवं आत्मा, इन छह तत्त्वों को माना।^{२१} उन दार्शनिकों के अनुसार ये छह तत्त्व जगत् के प्रमुख कारण हैं, जिनकी न तो उत्पत्ति होती है और न ही उनका विनाश अर्थात् वे शाश्वत हैं।^{२२}

महाभूतों को शाश्वत कैसे माना जा सकता है। क्योंकि महाप्रलय में उनकी सत्ता नहीं रहती है। महाप्रलय में ये आदि कारण में निलय हो जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि महाभूत जगत् के मूल कारण नहीं हो सकते, अपितु उनका “आदि कारण” और “आत्मा” में दो तत्त्व जगत् के कारण हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि महाभूतों का “आदि कारण” क्या है? महाभूतों के इस आदि कारण के रूप में कुछ दार्शनिकों ने “प्रधान” को स्वीकार किया, जो त्रिगुणात्मक है। उन दार्शनिकों के अनुसार “प्रधान” और

“पुरुष” या “आत्मा” ये दो तत्त्व जगत् के परम कारण या तत्त्व हैं। इनमें “प्रधान” जड़ और “पुरुष” चेतन है। वस्तु जगत् के समस्त विषय “प्रधान” से उत्पन्न हैं

जगत् के परम तत्त्व की खोज के विकास क्रम में मुण्डक उपनिषद्, जड़ और चेतन की कल्पना से, आगे बढ़ जाता है तथा इन दोनों को अर्थात् जड़ तथा चेतन की उत्पत्ति का कारण एक “दिव्य पुरुष” को स्वीकार करता है।¹³ मुण्डक उपनिषद् के अनुसार जगत् की उत्पत्ति के पहले एक दिव्य, अमूर्त, अज, अप्राण, अमन, शुभ्र तथा अक्षर पुरुष था।¹⁴ उसी से प्राण, मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा जगत् के अन्य विषयों की उत्पत्ति हुई।¹⁵ अर्थात् जड़ और चेतन सभी विषयों की उत्पत्ति “पुरुष” से हुई। इस मत के सदृश एक अन्य मत मिलता है, जिसमें “प्रजापति” को जड़ और चेतन का कारण माना गया है अर्थात् “प्रजापति” को जगत् का परम तत्त्व माना है। प्रश्न उपनिषद् के अनुसार जगत् की उत्पत्ति के पहले “प्रजापति” था।¹⁶ उसने तप किया और सबसे पहले “रयि”¹⁷ तथा “प्राण”¹⁸ को उत्पन्न किया और इन दोनों से जगत् के अन्य विषयों को बनाया। किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद्¹⁹ में तीनों को—सर्वसमर्थ, असमर्थ तथा भोग्य सामग्री से युक्त तत्त्व को अजन्मा माना है अर्थात् परमात्मा, आत्मा और प्रकृति, अन्य शब्दों में, जड़, चेतन और उनका स्वामी इन तीनों को तत्त्व रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु आगे कहा गया है कि इन तीनों के “ब्रह्म रूप” में जानना या प्राप्त करना चाहिये। श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह विचार “ब्रह्म” के परम तत्त्व होने का संकेत करता है।

मुण्डक उपनिषद् में “ब्रह्म” को परम तत्त्व मानकर उसी से जगत् की उत्पत्ति मानी गई है।²⁰ मुण्डक उपनिषद् के अनुसार “ब्रह्म” संकल्प रूप तप से वृद्धि को प्राप्त होता है। उससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से अन्य विषय उत्पन्न होते हैं।²¹ मुण्डक उपनिषद् के विपरीत माण्डूक्योपनिषद् में, यद्यपि “ब्रह्म” को परम तत्त्व माना है, किन्तु ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं मानकर, जगत् को ही ब्रह्म बताया है।²² इस मत का उल्लेख सूत्रकृतांगसूत्र²³ में भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि जैसे एक पृथ्वी पिण्ड नाना रूपों में दिखाई देता है उसी प्रकार समस्त जगत् एक ‘विष्णु’²⁴ है, जो नाना रूपों में दिखाई देता है।

जगत् के कारणसम्बन्धी उपर्युक्त मतों के विपरीत कुछ अन्य दार्शनिकों²⁵ ने जगत् का कोई कारण नहीं माना। उन दार्शनिकों के अनुसार जड़ और चेतन अर्थात् आत्मा और जगत् तथा उसके समस्त विषय बिना किसी कारण के उत्पन्न होते हैं,²⁶ अर्थात् उनकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है, वे अकारण उत्पन्न होते हैं।

अन्त में, संक्षेप में कहा जा सकता है कि विभिन्न वैदिक दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न तत्त्वों को जगत् के कारण के रूप में माना, अर्थात्, किसी ने ‘असत्’ को जगत् का मूल कारण अथवा तत्त्व माना, किसी ने ‘सत्’ को, तो किसी ने ‘सत्’-‘असत्’ को, किसी ने ‘जल’ को, तो किसी ने ‘अग्नि’ को, किसी ने ‘वायु’ को, तो किसी ने ‘आकाश’ को, किसी ने ‘पांच महाभूतों’ को, तो किसी ने ‘पुरुष’ एवं ‘प्रधान’ को, किसी ने ‘दिव्य पुरुष’ को, तो किसी ने ‘प्राण’ को, किसी ने ‘आत्मा’ को और किसी

‘ब्रह्म’ को तत्त्व माना । किन्तु ये सभी मत एक-दूसरे के विरोधी हैं । अतः न तो ये सभी मत सत्य हैं और न ही इन विभिन्न दार्शनिकों द्वारा मान्य विभिन्न तत्त्वों को तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । इसलिए यह प्रश्न अब भी उठता है कि ‘तत्त्व’ क्या है ?

टिप्पणी : वैदिक भाषा के हार्द को अनेकों भाष्यकारों ने खोला है; किन्तु लेखक ने उसे जानने की कोशिश नहीं की? इसीलिए मूल प्रश्न को ऊहापोह करके अन्त में ज्यों का त्यों अनुत्तरित छोड़ दिया है ।

—संपादक

३

सन्दर्भः—

१. प्रस्तुत लेख में, वैदिक साहित्य में जो तत्त्व सम्बन्धी विचार हैं उनका भाषायी एवं दार्शनिक विश्लेषण नहीं किया गया है, अपितु उनको वैचारिक रूप से, (ऐतिहासिक एवं कालिक रूप से नहीं) क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया है ।
२. यहां वैदिक साहित्य में मुख्य रूप से संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों को लिया गया है ।
३. जिससे जगत् और उसके समस्त विषयों की उत्पत्ति हो, जो समस्त विषयों की सत्ता का आधार हो और जिसमें समस्त विषयों का लय हो, उसे तत्त्व या जगत् का मूल कारण माना जा सकता है ।
४. तैत्तिरीय ब्राह्मण II २. ९. १, सूयगडो—में उद्धृत, पृ. ६८, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, प्रथम संस्कारण, १९८४
५. शतपथ ब्राह्मण, ६. १. १, सूयगडो—१ में उद्धृत, पृ. ६२, जैन विश्व भारती लाडनूं, राजस्थान, प्रथम संस्करण, १९८४
६. तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली—सप्तम् अनुवाक, ईशादि ती उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस गोरखपुर, बारहवां संस्करण, सं. २०४७
७. उपनिषद्—दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० ५९, रानाडे, रामचंद्र दत्तात्रेय, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथमावृत्ति, १९८३
८. वही, पृ० ५८
९. कुछ विचारकों ने “असत्” को “अव्यक्त” के अर्थ में लिया है और कुछ विचारकों ने “अभाव” के अर्थ में । किन्तु यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि वेदों तथा उपनिषदों में “असत्” का वास्तविक अर्थ क्या है ।
१०. छांदोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, २/१-२, उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण में उद्धृत, पृ० ४१ व ६०, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथमावृत्ति, १९८३
११. ध्यातव्य है कि प्रस्तुत लेख में जो वैचारिक क्रम अपनाया गया है वह केवल विभिन्न मतों को एक क्रमिक रूप से प्रस्तुत करने की सुविधा के लिए अपनाया जा रहा है, न कि उन मतों या विचारों का विकास इस क्रम से हुआ है । यह सम्भव ही नहीं, बल्कि ऐसा है भी, कि इन मतों या विचारों का विकास इस क्रम से नहीं हुआ है ।

१२. ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १६४, ऋचा ४६, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, संवत् २०३२
१३. वही, मण्डल १, सूक्त १६४, ऋचा ४६
१४. छांदोग्य उपनिषद्, ६. २. १. २, उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण में उद्धृत, पृ० ४१ राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर प्रथमावृत्ति, १९८३
१५. वही, ६. २. ३. ४. व ६. ३. २. ३, सूयगडो—१ में उद्धृत, पृ० ६२, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, प्रथम संस्करण, १९८४.
१६. जैन अनेकांतवाद एवं अपेक्षा सिद्धांत से तुलना करें।
१७. मुण्डक उपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर) के सं २. २. १ की हिन्दी व्याख्या में सत् और असत् को कार्यकरण के अर्थ में लिया गया है। किन्तु यहां प्रश्न है कि सत् और असत् को कार्य और कारण के अर्थ में लेना क्या तर्कसंगत होगा ?
१८. मुण्डक उपनिषद्, द्वितीय मुण्डक, द्वितीय खंड, मन्त्र १, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित गीता प्रेस गोरखपुर, बारहवां संस्करण, सं. २०४७
१९. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १२९, ऋचा १ व २, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, संवत् २०३२
२०. बृहदारण्यक उपनिषद्, ५. ५. १, उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. ५४ में उद्धृत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर १९८३
२१. बृहदारण्यक उपनिषद् का यह मत ग्रीक दार्शनिक थैलीज् के उस मत से साम्य रखता है जिसके अनुसार जल समस्त वस्तु जगत् का मूल कारण है।
२२. बृहदारण्यक उपनिषद् में “ब्रह्म” को सत्य से उत्पन्न माना गया है जबकि परवर्ती युग में ब्रह्म को मूल तत्त्व माना गया है। अतः यहां प्रश्न उठता है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित “ब्रह्म” और परवर्ती युग में प्रचलित “ब्रह्म” ये दोनों एक है या भिन्न ?
२३. (क) छांदोग्य उपनिषद्, ६. ३. ३. ४, ६. ३. २. ३, सूयगडो—१ में उद्धृत, पृ. ६२, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, प्रथम संस्करण, १९८४
(ख) प्रश्न उपनिषद्, प्रश्न ६—मंत्र ४, तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली—प्रथम अनुवाक, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०४७
२४. कठ उपनिषद्, अध्याय २, बल्ली—२, मंत्र ९, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०४७
ग्रीक भाषा में हैराक्लाइटस ने “अग्नि” को जगत् का मूल कारण माना है।
२५. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. ५२, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथमावृत्ति, १९८३.
२६. वही, पृ. ५६
२७. वही, पृ. ५५
२८. रैब्व के ये विचार राजा जानश्रुति को दिये गये उपदेशों में मिलते हैं।
२९. ग्रीक दार्शनिक अनेक्जिमीडर के अनुसार “वायु” समस्त विषयों का आदि और अन्त है।

३०. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. ५५, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथमावृत्ति, १९८३
३१. प्रश्न उपनिषद्, प्रश्न ६, मन्त्र ४ ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, बारहवां संस्करण, सं. २०४७
३२. तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली—प्रथम अनुवाक, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, बारहवां संस्करण, सं. २०४७
३३. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. ५७, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथमावृत्ति, १९८३
३४. वही, पृ. ५७
३५. सूयगडो—१, १. १. १, ७, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, प्रथम संस्करण, १९८४
३६. सूत्रकृतांग सूत्र, सूत्रांक ६५५ व ६५६, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, १९८२
३७. प्रश्न उपनिषद्, प्रश्न २, मंत्र ३, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, बारहवां संस्करण, सं. २०४७
३८. यहां “सब कुछ” से तात्पर्य है आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, वाणी, श्रोत तथा मन । आकाश आदि पांच महाभूतों को “सब कुछ” में इसलिये गिनाया गया है कि उन्हें प्राण के ही पांच रूप या भाग माने हैं तथा प्राण से ही उनकी उत्पत्ति । प्रश्न उपनिषद् २. ३, २. ५ व ६. ४
३९. वही, प्रश्न २, ४ मंत्र
४०. वही, प्रश्न २, मंत्र ५ व ६
४१. वही, प्रश्न २, मंत्र ५
४२. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर प्रथमावृत्ति, १९८३.
४३. वही, पृ. ६५
४४. बृहदारण्यक उपनिषद्, १. ४. ३, १. ४. ४, १. ४. ७, सूयगडो—१ में उद्धृत, पृ. ६२, जैन विश्व भारती लाडनूं, राजस्थान, प्रथम संस्करण, १९८४.
४५. उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. ६७, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर १९८३
४६. तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली—प्रथम अनुवाक, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०४७ ।
४७. तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्न को सब भूतों से श्रेष्ठ बतलाकर उसी से प्राणियों की उत्पत्ति मानी है तथा उसी में उनका निलय ।
४८. ऐतरेय उपनिषद्, अध्याय, १ खंड १, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, नीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०४७ ।
४९. ऐतरेय उपनिषद् में आत्मा से जिन लोकों की उत्पत्ति मानी हैं वे हैं—अम्भ लोक, अन्तरिक्ष लोक, मर्त्य लोक और जल लोक ।

५०. आत्मषष्ठवादी दार्शनिक । इन दार्शनिकों ने पांच महाभूत और और आत्मा को तत्त्व माना है । अतः इनका मत “अत्मषष्ठवाद” विख्यात है ।
५१. सूयगडो—१, १. १. १. १५, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, प्रथम संस्करण १९८४
५२. वही, १. १. १. १५ एवं १६
सूत्रकृतांग सूत्र, सूत्रांक १५, १६ एवं ६५७, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर राज. १९८२
५३. मुण्डक उपनिषद्, मुण्डक २, खण्ड १, मंत्र २, ७ व ९ ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०४७
५४. वही, मुण्डक २, खंड १, मंत्र २
५४. वही, मुण्डक २. खंड १, मंत्र ३, ५, ७, व ९
५६. प्रश्न उपनिषद् प्रश्न १, मंत्र ४, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, स. २०४७
५७. मूर्त और अमूर्त जड़ पदार्थों को “रयि” कहा गया है ।
५८. “जीवन शक्ति” को ‘प्राण’ कहा गया है, जो चेतन है ।
५९. श्वेताम्बतर उपनिषद्, अष्टययाय १, मंत्र ९ एवं १२, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०४७
६०. मुण्डक उपनिषद् के द्वितीय मुण्डक के प्रथम खंड में “दिव्य अमूर्त पुरुष” को परम तत्त्व माना है जबकि प्रथम मुण्डक के प्रथम खंड में “ब्रह्म” को परम तत्त्व माना है ।
६१. मुण्डक उपनिषद्, मुण्डक १, खंड १, मंत्र ८, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०४७
६२. माण्डूक्य उपनिषद्, मंत्र १ व २, ईशादि नौ उपनिषद् में संकलित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०४७
६३. सूयगडो, १. १. १. ९, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, प्रथम संस्करण १९८४
६४. “विष्णु” के अर्थ को लेकर विचारकों में मत भेद है, किन्तु सूत्रकृतांग की हिन्दी व्याख्या में इसे “ब्रह्म” के अर्थ में लिया गया है । देखें—सूत्रकृतांग, पृ. २४, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, १९८२
६५. अकारणवादी दार्शनिक ।
६६. दीर्घनिकाय—“ब्रह्मजालसुत्त”

(श्री राजवीर सिंह शेखावत)

१२, प्रताप नगर

शास्त्री नगर, जयपुर—१६

आयारो में हिंसा-अहिंसा विवेक

☞ सुरेन्द्र वर्मा

आयारो जैन आगम-साहित्य का एक प्रतिष्ठित धर्म-ग्रंथ है जो मनुष्य के हिंसा-हिंसा-विवेक को जगाता है। इसके अनुसार मनुष्य के सभी हिंसक कर्म (कर्म-समारम्भ) जानने और त्यागने योग्य (परिज्ञा-तव्य) होते हैं।^१

जैन दर्शन, जैसा कि हम सभी जानते ही हैं, एक अहिंसक जीवन पद्धति का पक्षधर है। अहिंसा की यह पक्ष-धारणा, जैन दर्शन में केवल शास्त्रीय न होकर व्यावहारिक जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण पर टिकी हुई है। आयारो में हमें अपने वास्तविक हिंसाप्रेरित जीवन का एक कच्चा चिट्ठा देखने को मिलता है। जीवन के इस वास्तविक स्वरूप को जानकर ही, जो निश्चित ही हिंसा से परिपूर्ण है, आयारो अंततः इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि हिंसा को हम जिन-जिन प्रयोजनों के लिए अपनाते हैं, उन सभी के लिए वह अंततः निरर्थक सिद्ध होती है।

मनुष्य हिंसा क्यों करता है ?

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मनुष्य की हिंसा का दायरा बहुत विस्तृत है। वह सभी प्रकार के जीवों (पृथ्वीकायिक, जल कायिक, अग्निकायिक, वनस्पति कायिक, त्रसकायिक तथा वायुकायिक) की हिंसा करता है, और यह हिंसा वह स्वयं अपने स्वार्थ के लिए करता है। आयारो में सभी प्रकार के जीवों की हिंसा का हवाला देते हुए, बार बार यह बताया गया है कि मनुष्य ही

वर्तमान जीवन के लिए

प्रशंसा, सम्मान, और पूजा के लिए

जन्म मरण और मोचन के लिए

दुःख प्रतिकार के लिए^२

हिंसक-कर्म का समारंभ करता है। वह समझता है इससे उसका जीवन अधिक समृद्ध और अधिक सुखकर होगा। अपने जीवन की सुरक्षा के लिए मनुष्य दूसरे जीवों का वध और शोषण करता है। उनके मांस, रक्त और दंत आदि से विविध औषधियों का निर्माण करता है और उनको उपयोग में लाता है। अपनी प्रसिद्धि और कीर्ति के लिए बड़े-बड़े और शक्तिशाली पशुओं का आखेट करता है और इस प्रकार जीव-जगत में अपना वर्चस्व बनाए रखता है। वह अपने सम्मान के लिए धन-बल अर्जित करता है और इसके लिए भी शोषण और हिंसा का ही सहारा लेता है। अपनी पूजा करवाने के लिए वह युद्ध और संघर्ष करता है और न जाने कितने अबोध प्राणियों की जीवन

लीला समाप्त कर देता है। सन्तान प्राप्ति और उसके जन्म के लिए अनेकों षट्कर्म करता है और इसी प्रकार, परिजनों की मृत्यु पर पिण्डदान आदि अनेकानेक हिंसक कर्म-काण्डों का सहभागी होता है। अपने कष्ट मोचन या दुःख निवारण हेतु वह दूसरे प्राणियों के जीवन को कष्टमय और दुःखपूर्ण बना डालने से तनिक भी नहीं हिचकिचाता।

ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के मन में मानो एक हीन-भावना भर गई हो और इसलिए वह अधिक से अधिक बल प्राप्त करने हेतु प्रयत्न-रत रहता है। वह शारीरिक-बल, मित्र-बल, पारलौकिक-बल, देव-बल, राजबल, चोर-बल, अतिथि-बल, कृपण-बल और श्रमण-बल का संग्रह करता है, और इन नानाविध शक्तियों की सम्पूर्ति के लिए 'दंड' (या हिंसा) का प्रयोग करता है' किंतु हिंसा का यह प्रयोग क्या व्यक्ति को सचमुच मुक्त कर सकता है? सच तो यह है कि हिंसा किसी भी प्रयोग की सिद्धि में वस्तुतः सहायक नहीं होती। आचार्यो में यही बताने का प्रयत्न किया गया है और कहा गया है कि मनुष्य को अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए हिंसा का न तो प्रयोग करना चाहिए, न उसका प्रयोग करवाना चाहिए और न ही प्रयोग करने वाले का अनुमोदन करना चाहिए।^४

हिंसा के प्रारूप

यदि हम मनुष्य के विविध हिंसक-कर्मों का विश्लेषण करें तो हिंसा के एक प्रारूपशास्त्र (typology of violence) को विकसित करने में हमें कोई कठिनाई नहीं होगी। कहा गया है कि मनुष्य अपने नानाविध कार्यों की सम्पूर्ति के लिए हिंसा (दंड) का प्रयोग करता है। कोई व्यक्ति खूब सोचसमझ कर विचार पूर्वक हिंसा करता है तो कोई भयाक्रांत होकर हिंसा करता है। 'कुछ लोग यज्ञ-बलि आदि हिंसात्मक कर्मों से अपने पाप की मुक्ति मानते हैं और हिंसा करते हैं तो कुछ लोग अपनी अभिलाषाओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए हिंसा में लिप्त होते हैं। हिंसा के इस प्रकार ये चार रूप हुए—(१) सुविचारित हिंसा ('संवेहा') (२) भय-हिंसा (३) पाप-मुक्ति-कल्पित हिंसा ('पाप-मोक्षोत्ति मण्णमाणे') तथा (४) आकांक्षी हिंसा ('आसंसाए')।

आचार्यो में एक अन्य स्थल पर हिंसा के दो रूप बताए गए हैं—यहाँ कहा गया है कि कुछ लोग प्रयोजनवश प्राणियों की हिंसा करते हैं तो कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन के ही हिंसक कर्मों में लिप्त देखे जा सकते हैं—अप्येगे अट्टाए वहंति, अप्येगे अणट्टाए वहंति अतः हिंसा के दो रूप हैं प्रयोजनात्मक और अप्रयोजनात्मक ('अट्टाए' और 'अणट्टाए' हिंसा) प्रयोजनात्मक हिंसा किसी न किसी मतलब से की जाती है। यह पशुओं का चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूँछ, केश, सींग, दंत, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा आदि प्राप्त करने के लिए होती है ताकि इन चीजों का व्यक्ति अपने किसी हित में उपयोग कर सके। किंतु अप्रयोजनात्मक हिंसा क्या है? आचार्यो में यह स्पष्ट नहीं किया गया है किंतु इससे तात्पर्य कदाचित् इस विक्रय हिंसा से है जिसे करने में व्यक्ति को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता किंतु एक प्रकार के धिनीने सुख का वह उसमें अनुभव करता है। हिंसा ऐसे लोगों के लिए केवल एक खेल है, आखेट है।

यह निष्प्रयोजन आखेट है। ऐसे लोग प्राणी के भेदन-छेदन में मानो एक विकृत, अस्वस्थ सुख प्राप्त करते हैं। ऐसी निरर्थक हिंसा को हम चाहे तो 'क्रीड़ात्मक हिंसा' भी कह सकते हैं।

हिंसा को काल-परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। हिंसा कभी की गई थी, हिंसा की जा रही है और हिंसा भविष्य में हो सकती है—इन तीनों ही बातों को सोचकर व्यक्ति हिंसा में लिप्त हो सकता है।

अक्सर मनुष्य हिंसा इसलिए करता है कि वह या उसके परिजन कभी विगत में हिंसा के शिकार हुए थे—अथेगे हिंसिसु मेत्ति वा वहन्ति। व्यक्ति मानों जो हिंसा विगत में की गई थी, उसका प्रतिशोध लेने के लिए हिंसा करता है। हम चाहें तो इसे 'प्रतिशोधात्मक' हिंसा कह सकते हैं।

कुछ लोग हिंसा प्रतिशोध के लिए नहीं बल्कि तुरन्त-प्रतिक्रिया के रूप में भी करते हैं। हिंसा की सामान्य प्रतिक्रिया सदैव हिंसा ही होती है। कुछ लोग क्योंकि वर्तमान में हिंसा कर रहे होते हैं, अतः प्रतिक्रिया स्वरूप व्यक्ति हिंसा करते हैं—अप्येगे हिंसंति मेत्ति वा वहन्ति। इसके अतिरिक्त हिंसा आशंका और भय के कारण भी होती है। इस डर से कि भविष्य में कहीं हिंसा का सामना न करना पड़ जाए, व्यक्ति हिंसक हो उठ सकता है। इसे हम भयाक्रांत हिंसा कह सकते हैं। अप्येगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहन्ति। कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की तीनों अनुक्रियात्मक हिंसाओं से सामान्यतः बच नहीं पाता। हिंसा या तो विगत में की गई हिंसा का उत्तर होती है, या वर्तमान में की गई हिंसा का जवाब होती है या फिर भविष्य में हिंसा की आशंका का प्रतिफल होती है। इन तीनों प्रकार की हिंसाओं को हम क्रमशः 'प्रतिशोधात्मक हिंसा', 'प्रतिक्रियात्मक हिंसा' और 'भयाक्रांत हिंसा' कह सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्यों में हिंसा के कई आयामों का संकेत मिलता है। हिंसा जहाँ एक ओर सुविचारित है वहीं वह दूसरी ओर भय या पाप की मुक्ति की आकांक्षा से प्रेरित है। इसी प्रकार, हिंसा जहाँ एक ओर प्रयोजनात्मक और सोद्देश्य है वहीं वह निष्प्रयोजन भी संपन्न की जा सकती है। हिंसा को हम काल के परिप्रेक्ष्य में भी देख सकते हैं। वह भूतकाल में की गई हिंसा से प्रेरित प्रतिशोधात्मक हिंसा हो सकती है, वर्तमान में हिंसा के प्रति वह प्रतिक्रियात्मक हिंसा भी हो सकती है और भविष्य की आशंका से प्रेरित भयाक्रांत हिंसा भी हो सकती है।

हिंसा के ये तीनों ही आयाम—

- (१) सुविचारित-अविचारित
- (२) प्रयोजनात्मक-अप्रयोजनात्मक तथा
- (३) भूत, वर्तमान और भविष्य से काल-सापेक्षित—बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जो हिंसा के स्वभाव पर प्रकाश डालते हैं।

आत्म तुला

कुल मिला कर मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए हिंसा करता है और उसे कई प्रकार से सम्पन्न करता है। किंतु इससे क्या कोई लाभ भी होता है? शायद नहीं। वस्तु-

स्थिति तो यह है कि इससे हिंसा का दायरा बढ़ता ही जाता है और उसमें स्वयं हिंसा करने वाला ही फंस जाता है।

आयारो के अनुसार, दूसरे की हिंसा करना वस्तुतः स्वयं अपनी ही हिंसा करना है क्योंकि—

जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है

जिसे तू अपने अधीन, अपनी आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है

जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है

जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है

जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।¹

उपर्युक्त सूत्र में आत्मा की समानता का प्रतिपादन किया गया है। सभी जीवों की आत्मा एक जैसी है। सभी प्राणियों की अनुभूतियाँ समान होती हैं। 'जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है'—तात्पर्य यह है कि दूसरों के द्वारा आहत होने पर जैसी अनुभूति तुझे होती है, वैसी ही अनुभूति उसे भी होती है, जिसे तू आहत करता है।

भगवान् कहते हैं कि यही वह आत्मतुला है जिसका अन्वेषण आवश्यक है—**एयं तुलमण्णेसि।**² यह आत्मतुला अंदर-बाहर की एकता की द्योतक है—'जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है। जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है (१.१४७)। प्रत्येक व्यक्ति की सुख-दुःख की अनुभूति बेशक उसकी अपनी और निजी अनुभूति है किन्तु हम दूसरे के सुख-दुःख को स्वसंवेदन के आधार पर भलीभांति जान सकते हैं। निमित्त समान होने पर, जो अपने में घटित होता है, वही दूसरों में घटित होता है और जो दूसरों में घटित होता है, वही अपने में घटित होता है। मनुष्य यदि यह बात समझ ले तो कोई कारण नहीं है कि वह हिंसा करे। सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है—**सर्व्वेत्ति जीवियं पियं।** सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। सभी सुख का आस्वादन चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं। उन्हें वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है—**वे जीवित रहना चाहते हैं।**³ ऐसे में, स्पष्ट ही हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

भगवान् महावीर द्वारा सुझाया गयी आत्मतुला का मापदंड 'सम्यक्त्व' पर आधारित है। हम सबकी आत्माएं, समान परिस्थितियों में समान अनुभव करती हैं। इसीलिए दूसरे किसी भी प्राणी का कष्ट वैसा ही मानना चाहिए जैसा स्वयं अपना कष्ट होता है। दूसरे के अहित को अपना अहित, दूसरे के दुःख को अपना दुःख, दूसरे की लाचारी को अपनी लाचारी के समान समझना ही आत्म-तुला है। इसी मापदंड को अपना कर व्यक्ति हिंसा से बच सकता है। यदि व्यक्ति हिंसा में दूसरों के दुःख और अहित और उनके भय और आतंक को अपनी इन्हीं अनुभूतियों के समान समझता है तो हिंसा स्वयं ही समाप्त हो जाती है। आयारो कहता है कि जो पुरुष हिंसा में आतंक देखता है, अहित देखता है—वह उससे निवृत्त हो सकता है—**आयंक वंसी अहियं ति निच्चा।**⁴

आधारो में इस बात पर बार-बार आग्रह किया है कि हिंसा निरर्थक है। वह किसी का हित नहीं साधती, बल्कि अहित ही करती है। हिंसा में निहित इस आतंक-दर्शन को समझना आवश्यक है। जो इसे नहीं समझता वह अज्ञानी है, अबोध है। हिंसा में मनुष्य का अहित और अज्ञान है—तं से अहियाए, तं से अबोहीए^{१२}। इस प्रकार आधारो में अहिंसा के तीन आलम्बन हैं—(१) आतंक-दर्शन (२) अहित-बोध और (३) आत्मतुला। आतंक दर्शन हिंसा में निहित भय और आतंक की ओर निर्देश करता है, अहित बोध उससे होने वाले अहित की ओर संकेत करता है और आत्मतुला, इन अनुभूतियों की सभी में समानता है को अनुभव कराती है जो हमें अंततः हिंसा से विरत होने में सहायक है। जो व्यक्ति इन तीनों आलम्बनों को समझ लेता है, वह हिंसा कर ही नहीं सकता।

मनुष्य हिंसा से क्यों नहीं विरत होता। वस्तुतः पुरानी आदतों को छोड़ पाना कोई आसान काम नहीं है। हम सैकड़ों वर्षों से हिंसा करते आए हैं और उसे 'उचित' ठहराते आए हैं। उसे 'उपयोगी' मानते आए हैं। यह वृत्ति हमारी संरचना में इतनी दृढ़ हो गई है कि उसने एक ग्रंथि, एक 'कॉम्प्लेक्स' का रूप ले लिया है। आज हम केवल बौद्धिक स्तर पर हिंसा को भले ही अनुपयोगी और निरर्थक सिद्ध कर लें, लेकिन इससे हमारी सदियों पुरानी हिंसा की ग्रंथि में कोई असर नहीं पड़ता। हम हिंसा से मानो मोह ग्रस्त हैं और इसीलिए यह अंततः मनुष्य की मृत्यु और नारकीय जीवन का कारण बनती है—

एस खलु गंथे,
 एस खलु मोहे,
 एस खलु मारे,
 एस खलु गिरए^{१३}

क्या मनुष्य कभी अपनी इस ग्रंथि से, जो उसे मोहित किए है और जो उसकी मृत्यु और उसके नारकीय जीवन का कारण है, उबर पाएगा ?

आधारो में इसी महाप्रश्न का एक सकारात्मक उत्तर है।



संदर्भ :

इस आलेख में सभी संदर्भ-उद्धरण आचार्यो, जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनू
वि० सं० २०३१ से लिए गए हैं ।

१. आचार्यो, १.११
२. ,, , १.१३०
३. ,, , २.४१,४२
४. ,, , २.४६
५. ,, , २.४३
६. ,, , २.४४,४५
७. ,, , १.१४०
८. ,, , ५.१०१
९. ,, , १.१४८
१०. ,, , २.६३,६४
११. ,, , १.१४६
१२. ,, , १.१३२
१३. ,, , १.२५

—डॉ० सुरेन्द्र वर्मा

उपनिदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ

बी.एच.यू., वाराणसी

(उ. प्र.)—२२१००५

वनस्पतियों में जीवेन्द्रिय संज्ञान

☐ मुनिश्री चंद्र 'कमल'

आचार्य सिद्धसेन के अनुसार भगवान् महावीर द्वारा एक षट्जीवनिकाय का प्रतिपादन ही उनकी सर्वज्ञता के लिए पर्याप्त है। त्रस को छोड़कर एकेन्द्रिय के पांच निकायों का जीव रूप में प्रतिपादन किसी दर्शन में नहीं है। वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बसु ने वनस्पति को चेतना युक्त प्रमाणित कर इसी सत्य को उद्घाटित किया है। शेष चार निकाय अभी अन्वेषण मांगते हैं।

वनस्पति में एक स्पर्शन इंद्रिय है। यह तथ्य प्रसिद्ध है। किसी अपेक्षा से उसमें पांचों इंद्रियां हैं, यह प्रकाश विशेषावश्यकभाष्य देना है। उस भाष्य में प्रतिपादन है कि पृथिवी आदि एकेन्द्रियों में श्रोत्र, चक्षु, घ्राण और रसन इंद्रियों की निवृत्ति और उपकरण रूप द्रव्य इंद्रियों का अभाव है। फिर भी एकेन्द्रिय में सूक्ष्म और अव्यक्त श्रोत्र आदि चारों इंद्रियों की लब्धि तथा उपयोग रूप भावेन्द्रियों का किंचित् ज्ञान होता है। वनस्पतियों में यह भावज्ञान स्पष्ट दिखाई देता है।¹

भावज्ञान के उदाहरण

कोयल के द्वारा मधुर पंचम स्वर सुनने से वनस्पति के विरहक (वृक्ष विशेष) आदि वृक्षों में शीघ्र ही कुसुम-पल्लव आदि विकसित होते हैं, इससे श्रोत्र भावेन्द्रिय का ज्ञान प्रमाणित होता है।

सुंदर स्त्री के लोचन-कटाक्ष को देखने से तिलक आदि वृक्षों में कुसुम आदि का आविर्भाव हो जाता है। यह चक्षु भावेन्द्रिय ज्ञान को सिद्ध करता है।

सुगंधित गंध वस्तुओं को शीतल जल में मिश्रित कर चंपक आदि वृक्षों में सिंचन से वे जल्दी खिलते हैं। इससे घ्राण भावेन्द्रिय का ज्ञान स्पष्ट होता है। रंभा से भी अधिक रूपवती के मुख से निकले हुए स्वच्छ स्वादिष्ट और सुवासित मदिरा के कुरले का आस्वाद मिलने से बकुल आदि वृक्ष शीघ्र खिलते हैं। यह उनके रसन भावेन्द्रिय ज्ञान का चिन्ह है।

शृंगार-युक्त स्त्री के आर्लिंगन से कुरबक वृक्ष और पैर के प्रहार से अशोक आदि वृक्ष जल्दी बढ़ते हैं। यह स्पर्शन भावेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट प्रमाण है।² इस प्रकार सिद्ध है कि जैसे दूसरे जीवों में श्रोत्र आदि चार द्रव्य-इंद्रियों के अभाव में भावेन्द्रियजन्य ज्ञान उनको होता है, वैसे ही वनस्पतियों को भी द्रव्यश्रुत के अभाव में भावश्रुत ज्ञान होता है। इसी तथ्य का वाहक एक समाचार 'राजस्थान पत्रिका' में छपा है—

“पेड़ों के स्पंदन को जड़ तक समझने वाला, उनसे घंटों बतियाने वाला और उनके सुख दुःख बांटने में सक्षम क्लायस नोबेल को एक बार सात सदी पुराने पीपल

के वृक्ष ने उन्हें एक शांति विश्वविद्यालय खोलने की सलाह दी। उन्होंने वयोवृद्ध वृक्ष के आदेश को सर माथे लगाया और इस विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थान की खोज में निकल पड़े। नोबेल पुर्णों के पास आलदी पहुंचे और १ अरब की लागत से शांति विश्वविद्यालय की स्थापना की। इंद्रामणी नदी के तट पर बोलते वृक्षों के पास नोबेल का सपना साकार हुआ।¹⁷⁸

ऐसी ही एक भारतीय अनुश्रुति है कि आयुर्वेद वनस्पति कोश के प्रणेता—वैद्य धन्वन्तरि, वनस्पति के पास जाते, उससे उसके गुण दोष पूछते। वे ध्यान लगाकर बैठ जाते और वनस्पति उन्हें अपने सारे गुण दोष बता देती। इसीलिए वे अपने अतीन्द्रिय ज्ञान से वनस्पति के स्पंदनों को समझकर वनस्पति-जगत् की सारी वनस्पतियों का विश्लेषण करने में समर्थ हुए।

विचार, ध्वनि भाषा के स्पंदन होते हैं। स्पंदनों को समझने वाला वनस्पति की सांकेतिक भाषा को समझ लेता है। पूर्ण भाषा द्वीन्द्रिय आदि जीवों में होती है पर अव्यक्त भाषा एकेन्द्रिय में भी होती है।

जैसे श्रोत्र आदि चार द्रव्यइन्द्रियों के अभाव में भावेन्द्रियजन्य ज्ञान एकेन्द्रिय को होता है वैसे ही द्रव्यश्रुत के अभाव में भावश्रुत भी उनको होता है।

वनस्पति आदि का जलरूप आहार से जीवन चलता है यह उनकी आहार संज्ञा है। लज्जवंती लता को हाथ से स्पर्श करने पर वह संकुचित हो जाती है यह उसकी भय संज्ञा है। विरह, तिलक, चंपक, केशर, अशोक आदि वृक्ष स्त्री के आलिंगन से शीघ्र बढ़ते हैं यह उनकी मैथुन संज्ञा है।

बेल और पलाश आदि वृक्षों की जड़ें निघान के धन ऊपर फैली रहती हैं यह उनकी परिग्रह संज्ञा है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा ये चारों संज्ञाएं भावश्रुत के बिना हो नहीं सकतीं।¹⁷⁹

भ्रूण में भी भावश्रुत होता है इसकी पुष्टि के लिए डा. चौपड़ा का शोध (रीसर्च) मूल्यवान है। हार्टकेयर फाउंडेशन आफ इंडिया के अध्यक्ष डा. कर्नल के. एल चौपड़ा के अनुसार गर्भधारण के तत्काल बाद भ्रूण में जागरूकता विकसित होने लगती है और शीघ्र ही उनमें श्रवण अंग भी विकसित होते हैं। गर्भस्थ शिशु मां के शरीर द्वारा उत्पन्न किये जानेवाली सभी ध्वनियों को भ्रूण में सुन सकता है। वह हृदय की धड़कन में अन्तर या शारीरिक संकुचन द्वारा अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करता है।

भ्रूण मां के दिमाग में चलने वाले विचारों की ध्वनि भी सुनता है। विचार भी तरंग और ध्वनि ही होती है। भ्रूण मां के विचारों को तरंगों के माध्यम से जान लेता है। यदि मां की अनचाह का गर्भस्थ शिशु को यदि भान हो जाता है तो अधिकतर मामलों में अनचाहे गर्भ का स्वतः गर्भपात हो जाता है।¹⁸⁰

डा. चौपड़ा ने मनुष्य को परिलक्षित कर शोध किया है। परन्तु यह नियम प्रत्येक जीव पर घटित हो सकता है। वनस्पति जीव भी इस नियम का अपवाद नहीं है। वनस्पति के भ्रूण में भी भावश्रुत है ऐसा न मानने का कोई कारण नहीं है।

संदर्भ :—

१. विशेषात्रयक भाष्य गाथा १०३ वृत्ति :

इह केवलिनो विहाय शेष संसारिजीवानां सर्वेषामप्यतिस्तोक बहु बहुतर बहुतमादि तारतम्यभावेन द्रव्येन्द्रियेष्वसत्स्वपि लब्धीन्द्रियपञ्चकावरण क्षयोपशमः समस्त्येवेति परममुनिवचनम् । ततश्च यथा येन प्रकारेण पृथिव्यादीनामेकेन्द्रियाणां श्रोत्रचक्षु घ्राणरसनलक्षणानां प्रत्येकं निर्वृत्युपकरणरूपाणां द्रव्येन्द्रियाणां तत्प्रतिबन्धक कर्मावृत्त्वादवरोधप्यभावेपि सूक्ष्ममव्यक्तं लब्धयुपयोगरूपं श्रोत्रादिभावेन्द्रियज्ञानं भवति, लब्धीन्द्रियावरणक्षयोपशमसंभूताऽणीयसी ज्ञानशक्तिर्भवतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति एकेन्द्रियाणां तावच्छ्रोत्रादि द्रव्येन्द्रियाभावेपि भावेन्द्रियज्ञानं किञ्चिद् दृश्यत एव, वनस्पत्यादिषु स्पष्टतलिङ्गोपलंभात् ।

२. वही :

तथाहि कलकण्ठोद्गीर्णमधुर पञ्चमोद्गार श्रवणात् सद्यः कुसुमपल्लवादि प्रसवो विरहवृक्षादिषु श्रवणेन्द्रियज्ञानस्य व्यक्तं लिङ्गमवलोक्यते । तिलकादितरुषु पुनः कमनीयकामिनीकमलदग्दीर्घशरदिन्दुधवललोचनकटाक्षविक्षेपात् कुसुमाद्या- विर्भावश्चक्षुरिन्द्रिय ज्ञानस्य, चम्पकाद्यंह्रिषेषु तु विविध—सुगन्धि गन्धवस्तु निकु- रम्बोन्मिश्र विमल शीतल सलिल सेकात् तत्प्रकटनं घ्राणेन्द्रिय ज्ञानस्य, बकुलादि- भूरूहेषु तु रम्भातिशायिप्रवररूप वरतरुणभामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छसुस्वादु सुरभिवारुणी गण्डूषा स्वादनात् तदाविष्करणं रसनेन्द्रिय ज्ञानस्य, कुरबकादिविट- पिष्वशोकादि द्रुमेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुचकुम्भविभ्रमापभ्राजितकुम्भीन- कुम्भ रणन् मणिवलय ववणत् कङ्कणा भरणभूषित भव्यभामिनी भुजलताऽवगूहन सुखाद् निष्पिष्टपद्मरागचूर्णशोणतलतत्पादकमले पाष्णिप्रहाराच्चभ्रगति प्रसून पल्लवादिप्रभवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमभिवीक्ष्यते ।

३. राजस्थान पत्रिका जयपुर संस्करण दिनांक ६ जून १९९६ का अंक ।

४. विशेषात्रयकभाष्य गाथा १०३ वृत्ति—यर्थेषु द्रव्येन्द्रियासत्त्वेऽप्येतद् भावेन्द्रिय— जन्यज्ञानं सकलजनप्रसिद्धमस्ति, तथा द्रव्यश्रुताभावेभावश्रुतमपि भविष्यति । दृश्यते हि जलाद्याहारोपजीवनाद् वनस्पत्यादीनामाहार संज्ञा, संकोचन वत्त्यादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीत्याऽवयवसंकोचनादिभ्यो भयसंज्ञा, विरहक तिलक चम्पक केशराशोकादीनां तु मथुन संज्ञादिशतैव, विल्वपलाशादीनां तु निधानीकृतद्रविणो- परिपादमोचनादिभ्यः परिग्रहसंज्ञा । न चैताः संज्ञा भावश्रुतमन्तरेणोपपद्यन्ते ।

५. दैनिक नवज्योति जयपुर संस्करण १७ जून १९९६ का अंक ।

कविराज राजशेखर रचित कर्पूरमंजरी

❑ रामदीप राय

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति तथा ऐतिहासिक मूल्यों को सुरक्षित रखने में वाङ्मय ने अहं भूमिका का निर्वाह किया है। इसी परिप्रेक्ष्य में नाटक और सट्टक साहित्य का भी विशेष महत्त्व है। इसीलिए आज भी प्राचीन नाटकों का मंचन, विशेष आकर्षण का द्योतक माना जाता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमारे प्राचीन संस्कृत—प्राकृत नाटकों या सट्टकों की कथावस्तु में मनोरम कल्पनाओं की जो वनावट है वह चिर नवीन और अद्भुत होने के साथ ही लोक संस्कृति, सहज सामाजिक परिवेश एवं विविध रंगों से युक्त सांस्कृतिक उपादानों से आपूरित है।

भारतीय संस्कृति के निर्माण, संवर्धन और संरक्षण का भागोरथ प्रयास मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से लेकर वाल्मीकि और व्यास, पाणिनि और पतञ्जलि, भास और कालिदास, भर्तृहरि और भवभूति, भारवि और भट्टि, श्रीहर्ष, वाणभट्ट और राजशेखर तथा इन्हीं जैसे अनेक कवि-मनिषियों की अमर कृतियों में दृष्टिगोचर होता है। आचार्य राजशेखर ने अपने कर्पूरमंजरी नामक सट्टक में भी विविध सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। इस सट्टक से तत्कालीन सामाजिक रीतिरिवाज धर्म वेशभूषा एवं अलंकरण, शिक्षा, ललित कला, चित्र कला, संगीत कला, आर्थिक परिस्थितियां, राजनैतिक परिस्थितियां एवं भाषा साहित्य का पर्याप्त ज्ञान होता है।

(१) सांस्कृतिक महत्त्व :—आचार्य राजशेखर के कर्पूरमंजरी सट्टक में संस्कृति का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। उन्होंने जीवन भोग को भी संस्कृति का अंग माना है। उत्तम व क्रीड़ाएं, प्रेम व्यापार एवं पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रियाएँ संस्कृति के उपांग हैं।

(क) सामाजिक परिस्थितियां :—उस समय समाज में प्रचलित रीति-रिवाज के अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह और बहुविवाह करने की छूट थी। वर-वधू को विवाह के निमित्त बनाए गए एक विशेष मंडल में लाया जाता था तथा वस्त्र पहनाकर सभी प्रकार के आभूषणों से सजाया जाता था। इस अवसर पर वर और वधू दोनों ही पक्षों के सम्बन्धी उपस्थित रहते थे तथा उन के समक्ष विवाह क्रिया सम्पन्न होती थी।

(ख) आर्थिक परिस्थितियां :—प्रस्तुत सट्टक में वर्णित सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह युग सुख समृद्धि से परिपूर्ण था। रत्नों तथा सोने,

चांदी की बने हुए विविध अलंकरणों का ज्ञान होना इस बात का द्योतक है कि वह युग वैभव सम्पन्न था ।

- (ग) **राजनैतिक परिस्थितियाँ** :—विलास और शृंगार की प्रवृत्ति की स्पष्ट छाप तत्कालीन राजनीति पर भी परिलक्षित होती है । राजनीति के इन गुणों का प्रयोग, किसी कन्या को किसी दूसरे राज्य से छलपूर्वक मंगवाकर अपने स्वामी को चक्रवर्ती पद पर प्रतिष्ठित करने के निमित्त उससे उनका विवाह कराने में भी किया जाने लगा था ।¹ कर्पूरमंजरी में भी कुछ इसी तरह की घटना घटी हुई दिखाई देती है । अतः तत्कालीन राजनीति के क्षेत्र में वीरता और पराक्रम के ऊपर विलास और शृंगार की मनोवृत्ति का हावी होना स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।
- (घ) **धार्मिक परिस्थितियाँ** :—राजशेखर के ग्रंथों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस समय धार्मिक कट्टरता नहीं थी । एक परिवार के विभिन्न सदस्य अपनी-अपनी रुचि तथा विश्वास के साथ विष्णु, शिव या शक्ति की उपासना कर सकते थे । शक्ति के कौल सम्प्रदाय का भी मध्यकालीन समाज में कम प्रचार नहीं था । राजशेखर ने जिस नग्न कौल धर्म का संकेत किया है वह तत्कालीन समाज में व्याप्त निम्न धार्मिक स्तर का सूचक है ।²
- (ङ) **शिक्षा** :—उस समय समाज में शिक्षा का विशेष प्रचार था । पुरुषों की भांति महिलाएं भी सुशिक्षित होती थीं । धार्मिक, आध्यात्मिक, लौकिक सभी प्रकार के विषयों की शिक्षा दी जाती थी ।
- (च) **उत्सव एवं मनोविनोद** : कर्पूरमंजरी सट्टक का प्रारम्भ वसन्तोत्सव अथवा वसन्तऋतु के मनोरम सौन्दर्य से हुआ । ऋतुराज वसन्त के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखाकर जनमानस मुग्ध हो जाता है और चारों ओर संगीत की मधुर ध्वनि भङ्कृत होने लगती है ।
कर्पूरमंजरी में वटसावित्री महोत्सव का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है ।³ हिन्दोलन चतुर्थी के अवसर पर झूलने का वर्णन पाया जाता है ।
- (छ) **वेशभूषा, अलंकार तथा प्रसाधन** :—(१) **वेशभूषा**—कर्पूरमंजरी में वस्त्राभूषण एवं अलंकार सामग्री के उल्लेख मिलते हैं । माथे के वस्त्र “प्रतिशोषक, मध्यभाग के वस्त्र कूपसक⁴, वंचुलिका⁵, पट शाटिका और चलिताशुक⁶ आदि कई वस्त्रों का उल्लेख कर्पूरमंजरी में पाया जाता है । (२) **अलंकार सामग्री** :—अलंकरण प्रसाधनों में मुख्यतः दो प्रकार थे । पहला प्राकृतिक उपादानों से निर्मित और दूसरा रत्नों तथा मोने-चांदी से ।
- (क) **माथे में अलंकार शेखर⁷** जो आज भी मांगटीका के नाम से जाना जाता है ।
- (ख) **गले का अलंकरण में एकावली⁸** यह बड़े-बड़े तथा घने मुक्ताफलों को गूथकर बनाई गई एक तरह की माला होती थी । मुक्ताहार⁹ गौरिकहार तथा मरकत मणि का वर्णन आया है ।
- (ग) **कान के अलंकरण में ताटक¹⁰, कुण्डल, कर्णाभरण तथा कर्णपाश प्रमुख हैं ।**

- (घ) मुजाओं का अलंकरण—बलम¹³ मणि बलया तथा मृणाल बलय आदि प्रमुख हैं।
- (ङ) कटि प्रदेश के अलंकरण—में कांचीलता¹⁴ मुखर मेखला प्रमुख है।
- (च) पैरों के अलंकरण—में नूपुर¹⁵, मणिनूपुर तथा मरवत मंजोर¹⁶ प्रमुख हैं।
- (छ) प्रसाधन के उपकरण में शीत कालीन प्रसाधन मदन विलोपन¹⁷, सुगन्धित तेल, काजल एवं चरण कुंकुम है तथा ग्रीष्म-कालीन प्रसाधना में चन्दनलेप, गले में मोतियों की माला मृणालतंतुओं के कंगन तथा केशविन्यास आदि का वर्णन प्राप्त होता है।
- (ज) कलाकृतियाँ :—कपूर्मंजरी में पद्मपरागीण से निर्मित गौरी की प्रतिमा तथा बटवृक्ष के नीचे चामुण्डा की मूर्ति का भी उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त केलिविमान प्रसाद सुन्दर कला कृतियाँ एवं शिल्पकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।
- (झ) प्रमुख सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ :—कपूर्मंजरी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत में जहाँ एक ओर राष्ट्रीय संस्कृति की प्रमुख धारा प्रवाहित हो रही थी, वहीं दूसरी ओर भारत के विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृति की वेगवती धाराओं की कल-कल ध्वनि भी निनादित हो रही थी। विलास एवं शृंगार की प्रवृत्ति भी उस समय के कला-कृतियों, साहित्यिक रचनाओं, धार्मिक साधनाओं और राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं।

आचार्य राजशेखर की कपूर्मंजरी, सांस्कृतिक निर्माण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनमें प्राप्त होने वाली सूचनाएं तत्कालीन भारत से सांस्कृतिक जीवन का एक सुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत करती है।

(२) ऐतिहासिक महत्त्व :—कपूर्मंजरी में ऐतिहासिक महत्त्व के तथ्य भी पाये जाते हैं। भारत वर्ष के धार्मिक इतिहास के अध्ययन में कपूर्मंजरी से कुछ सहायता मिलती है। कपूर्मंजरी में तंत्र सम्प्रदाय की शिक्षाओं का उल्लेख है। चतुर्थ जवनिका में महारानी विभ्रमलेखा भैरवानन्द को अपना आध्यात्मिक गुरु बनाती है। भैरवानन्द सट्टक के प्रथम जवनिका में रंग मंच पर सुरा पिये हुए उपस्थित होता है और ऐसी बातें कहता है जो प्रत्यक्ष रूप से असत्य और अनैतिक मालूम पड़ती हैं। भैरवानन्द कहता है कि “न कोई मंत्र जानता हूँ न कोई तंत्र ही जानता हूँ और न कोई शास्त्र जानता हूँ, गुरु के मत के अनुसार कोई ध्यान अथवा समाधि लगाना भी नहीं जानता हूँ। शराब पीते हैं, दूसरों की स्त्रियों के साथ सहवास करते हैं और मोक्ष पाते हैं और यही हमारे कुल परम्परा का व्यवहार है”¹⁸ और भी “विधवा या चडाल और तांत्रिक शिक्षा में दीक्षित स्त्रियाँ ही हम लोगों की धर्म पत्नियाँ हैं। मदिरा पीता हूँ और मांस भक्षण करता हूँ तथा भिक्षा ही हमारा भोजन है तथा पशुचर्म ही हमारी शय्या है।”¹⁹

भैरवानन्द आगे कहता है कि “विष्णु, ब्रह्म आदि प्रमुख देवताओं ने ध्यान के द्वारा, वेद पढ़ने से, यज्ञ आदि की क्रियाओं के करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसा कहा है। लेकिन केवल उमा के प्रति भगवान शंकर ने मोक्ष की प्राप्ति संभोग और

मंदिरा पान करने से होती है ऐसा कहा है ।^{१०}

ऊपर लिखित अनुवाद में, जो कि मूल से बिल्कुल समानार्थक है, कोई भी बात सटीक नहीं है ! तंत्र सम्प्रदाय की शिक्षाओं में संन्यास से कोई भी सामंजस्य नहीं है । तंत्र-मंत्र के समर्थक वर्णव्यवस्था, वैदिक कर्मकाण्ड और परम्पराओं को प्रोत्साहन नहीं देते थे । कवि राजशेखर का विवाह स्वयं एक क्षत्रीय कन्या से हुआ था । यदि राजशेखर ब्राह्मण रहे हो, तो विवाह तांत्रिक ढंग से हुआ होगा या यह विवाह अनुलोम हुआ होगा । इस तरह मालूम पड़ता है कि भैरवानन्द के कथन के पीछे कोई पूर्ण-पद्धति छिपी हुई है । उसके शब्द प्रत्यक्ष रूप में अनैतिक मालूम पड़ते हैं, लेकिन उनमें दुहरा अभिप्राय छिपा हुआ है और नाटक में दर्शकों की अतुरक्ति पैदा करने के लिए है । इन सब बातों से तंत्र सम्प्रदाय के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है ।

निष्कर्ष :—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य राजशेखर की कर्पूरमंजरी से प्राप्त सांस्कृतिक तत्त्वों एवं ऐतिहासिक तथ्यों की पृष्ठ भूमि एक सुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत करती है । उस समय संस्कृति की दो मुख्य धाराएं साथ-साथ प्रवाहित हो रही थीं—एक क्षत्रीय और दूसरी राष्ट्रीय । यद्यपि भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भाषाएं भिन्न-भिन्न थीं, परन्तु भारतीय स्तर पर उनकी संपर्क भाषा सुसंस्कृत थी । धार्मिक दृष्टि से इस युग में सभी एक दूसरे के संप्रदाय के प्रति सम्मान का भाव व्यक्त करते थे । आचार्य द्वारा लिखित कर्पूरमंजरी सट्टक में घटनाओं का सूत्र संचालन एक तांत्रिक के द्वारा कराया गया है, अर्थात् तंत्र-मंत्र और धार्मिक अन्धविश्वासों का बोलबाला था ।

इसके अतिरिक्त प्रेम और श्रृंगार संसार में भी तांत्रिकों का प्रवेश सुलभ हो गया था । प्रेमिकाओं को प्रेम या व्यक्तिगत गुणों से वश में करने की अपेक्षा भयंकर तांत्रिक एवं उनकी अप्राकृतिक तांत्रिक प्रक्रियाओं को काम में लाने की प्रथा चल पड़ी थी, इसके साथ ही लड़ाइयों में पुरुषार्थ की अपेक्षा तांत्रित शास्त्रों पर विशेष विश्वास किया जाने लगा था । “कर्पूरमंजरी” में उपस्थित भैरवानन्द जैसे तांत्रिकों तथा उनके द्वारा प्रचारित नग्नकील धर्म का कुप्रभाव धीरे-धीरे संपूर्ण समाज पर बढ़ता गया, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक आचरण और नैतिक मूल्यों में गिरावट शुरू हो गई । लोगों की आसक्ति सुरा-सुन्दरी की उपासना में बढ़ने लगी । उदात्त राष्ट्रीय भावनाएं सोने लगी और उन्नत धार्मिक आदर्श मुरझाने लगे । मंदिरों की भित्तियों पर नग्न-चित्रों का अंकन भी आरम्भ हो गया । आचार्य ने संस्कृत के समान ही प्राकृत, अपभ्रंश पंशाची आदि सभी क्षेत्रीय भाषाओं में श्रद्धा व्यक्त की है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कर्पूरमंजरी के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विशेष महत्व है ।



संदर्भ स्रोत :

१. कपूरमंजरी—प्रथम जवनिका, श्लोक—११
२. " —चतुर्थ जवनिका पृष्ठ—२३
३. " — " " " —"
४. " —प्रथम जवनिका श्लोक—२६
५. " —प्रथम जवनिका पृष्ठ—११
६. " —प्रथम जवनिका श्लोक—१३
७. " —प्रथम जवनिका श्लोक—२७
८. " —चतुर्थ जवनिका पृष्ठ—१६८
९. " —तृतीय जवनिका पृष्ठ—१००
१०. " —प्रथम जवनिका पृष्ठ—१३४
११. " —द्वितीय जवनिका पृष्ठ—९५
१२. " —द्वितीय जवनिका पृष्ठ—७
१३. " —चतुर्थ जवनिका पृष्ठ—६१
१४. " —प्रथम जवनिका पृष्ठ—३१, तथा ९२
१५. " —द्वितीय जवनिका पृष्ठ—७४
१६. " —प्रथम जवनिका श्लोक—१३
१७. " —प्रथम जवनिका श्लोक—१३
१८. " —प्रथम जवनिका श्लोक—२३
१९. " —प्रथम जवनिका श्लोक—२४

—(डॉ. रामदीप राय)
व्याख्याता, प्राकृत विभाग
एल. जी. शाही कॉलेज, पटना

‘साहित्यलहरी’ के दो पद

उपेन्द्रनाथ राय

जब कुछ जाने-माने विद्वान् किसी ग्रन्थ को या उसके किसी अंश को अप्रामाणिक घोषित कर देते हैं तब एक परम्परा चल पड़ती है। परम्परानुकूल लिखने में सुविधा यह है कि ज्यादा सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं पड़ती और असंगत बातें लिखने पर भी प्रतिवाद नहीं होता (या यों कहें कि जानी-मानी पत्रिकाओं में वह छपता ही नहीं।) साहित्यलहरी के दो पदों को लेकर जिस प्रकार की बातें लिखी जा रही हैं वे ऐसी ही परम्परा के उदाहरण पेश करती हैं।

मतभेद और अनिश्चय

एक सम्पादकजी साहित्यलहरी के रचनाकाल सम्बन्धी पद का अर्थ सं. १६७७ बताते हुए कहा है—“यह पद सूरदास का नहीं हरिरायजी का है जिन्होंने साहित्य-लहरी के १०८ पदों का संग्रह किया था।” सम्पादकजी ने यह नहीं बताया कि वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थ हरिरायजी द्वारा रचित और सम्पादित ग्रन्थों में इसका उल्लेख क्यों नहीं करते। सं. १६७७ में सूर जीवित नहीं थे अतः उनकी अनुमति या इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। संग्रह हरिरायजी ने किया। फिर भी सूर का नाम पद में क्यों आ गया ?

डा. लक्ष्मीसागर वाष्ण्येय को सं, १६७७ तो मान्य लगा पर साहित्य-लहरी को सूर के पदों का संग्रह मानना रुचा नहीं। उनकी घोषणा है—“साहित्य-लहरी को अप्रामाणिक मानना ही उचित होगा।.....‘मुनि पुनि रमन के रस लेख’ का अर्थ भी विद्वानों ने सं. १६७७ वि. अर्थात् १६२० ई० माना है जो सूर की मृत्यु के बाद का समय है। उसमें वर्णित अलंकार और नायिक-भेद भी सूर जैसे भक्त के लिए उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में ‘साहित्य-लहरी’ किसी भाट की रचना है।”

‘रसखान का समय’ लेख में प्रसंग-भ्रष्ट होकर और भी चमत्कार लेखक ने दिखाया—“एक बार भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र ने सूरदास के दृष्टिकूटों का संग्रह ‘सूर-शनक’ के नाम से छपाया था जिसका हस्तलेख विलायती नीले कागज पर लिखा हुआ उन्हें सम्भवतः सरदार कन्निया किसी भाट से काशी में मिला था। पीछे और किसी ने भाटों की वंशावली वाला पद तथा कुछ और भी उद्यम में मिलाकर साहित्यलहरी के नाम से सूरदास का एक नया ग्रंथ ही छपा कर खड़ा कर दिया और सूरदास को ब्रह्मभट कहने लगे।” लेखक श्री बटेकृष्ण ने यह नहीं बताया कि उन्हें यह जानकारी कैसे प्राप्त हुई।

श्री विश्वनाथ मिश्र ने साहित्यलहरी के रचनाकार को नन्दनन्दनदास के लिए रचना करनेवाला 'नवीन सूर' माना है।^१ वंश-परिचय वाले पद के बारे में उनका मत है कि "सरदार कवि ने सुनी सुनाई बातों के आधार पर इसकी रचना की है।"^२ रचनाकाल के बारे में उनकी सम्मति है—“सूरसागर के अनेक हस्तलेख मिलते हैं। उनके भ्रमरगीत के भी बहुत से हस्तलेख मिलते हैं। पर साहित्यलहरी का कोई हस्त-लेख खोज में आज तक प्राप्त नहीं हुआ।.....साहित्यलहरी में जिस तरह के दृष्टिकूट आए हैं उस प्रकार के दृष्टिकूटों की रचना एक तो सूरदास के लिए यों भी सम्भव नहीं, क्योंकि वे कीर्तन के लिए मुख्याग् रचना किया करते थे। ...दूसरे जैसी पञ्चीकारी दृष्टिकूटों में की गई है वैसी हिन्दी के रीति कवियों की विशेषता है।.....इसीलिए मेरा अनुमान है कि साहित्यलहरी का निर्माण या तो सरदार कवि के कुछ पहले हुआ था या सरदार कवि के समय में ही हुआ। इस दृष्टि से विचार करने पर साहित्य-लहरी का निर्माणकाल सं. १९१७ जान पड़ता है। 'रस' का अर्थ 'नौ' लेना चाहिए।सरदार कवि का रचनाकाल सं. १९०२ से १९४० तक माना गया है।"^३

मिश्रजी ने यहां पाठकों को बड़ी उलझन में डाल दिया है। साहित्यलहरी की टीका का रचनाकाल सरदार कवि ने यों दिया है :—

संवत् वेद सु शून्य ग्रह, औ आतमा विचार ।
कातिक सुदि एकादशी, समुभि शुद्धवार ॥

अर्थात् टीका सं. १९०४ में लिखी गयी। अतः मिश्रजी के लेख को आप्त वाक्य मानें यो सरदार कवि ने टीका पहले रच डाली, साहित्यलहरी बाद में रची गयी।

श्री बटेकृष्ण का मत मिश्रजी से इस अंश में भिन्न है कि वे साहित्यलहरी के दृष्टिकूट पदों को सूर की रचना ही मानते हैं। उनके मत में संग्रहकर्ता का नाम तो ज्ञात नहीं पर भारतेन्दु और सरदार कवि के समय उसका साहित्यलहरी नहीं था, न उसमें वंशावलीवाला पद ही था। भारतेन्दु ने उसे "सूर-शतक" नाम दिया था। "वंशावलीवाला पद तथा कुछ और" जब उसमें मिलाया गया, तभी साहित्यलहरी नाम पड़ा। बाद में मिलाया गया "कुछ और" क्या था यह वे नहीं बताते। तथापि 'साहित्यलहरी' नाम 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' पद में ही मिलता है अतः उनका इंगित इसी ओर हो सकता है। भारतेन्दु और सरदार कवि के बाद का समय १९७७ ही हो सकता है। अतः श्री बटेकृष्ण का मत मानने से सं. १६७७ या सं. १९१७ का सुभाष यों ही निरस्त हो जाता है।

साहित्यलहरी के दो पदों को लेकर चले विवाद की लपेट में भारतेन्दु सम्पादित 'सूर-शतक' भी आ गया है। श्री बटेकृष्ण के लेख से 'सूरशतक' की विषय-वस्तु 'साहित्य लहरी' विभिन्न नहीं लगती। अन्तर केवल नाम और कुछ बढ़ाये गये पदों का है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मत में 'सूर-शतक' की विषय-वस्तु 'साहित्यलहरी' से अवश्य ही भिन्न रही होगी। उन्होंने बताया है कि "सूरसागर में न तो साहित्यलहरी के से कठिन दृष्टिकूटक हैं न साहित्यलहरी का कोई दृष्टिकूटक इसमें आया है"^४ और सूर-शतक के बारे में उनकी सूचना है—“भारतेन्दु बाबू को सूरदास के वे दृष्टिकूटक जो

सूरसागर में दिखाई पड़े बड़े, अच्छे जान पड़े और उन्होंने घोषणा की कि सूरदास के और दृष्टिकूटकों का जो पता लगाएगा उसे पारितोषिक दिया जाएगा। सूरदास के दृष्टिकूटों का एक संग्रह उस समय 'सूर-शतक' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके सभी दृष्टिकूट सूरसागर के हैं और सभी अपेक्षाकृत सरल हैं।¹⁶

'सूर-शतक' की विषय-वस्तु के बारे में इतने अनिश्चय और मतभेद का एक कारण तो यह है कि भारतेन्दु-युग का वह प्रकाशन बहुत पहले अप्राप्त हो चुका है। फिर उसी नाम के दो एक संग्रह और भी हुए हैं जो सूरसागर के पदों को चुनकर किये गये थे। इनमें से एक 'सूर-शतक' वल्लभ-सम्प्रदाय के कवि बालकृष्ण द्वारा सं. १६७७ के लगभग सटीक संकलित किया गया था और बम्बई से मुद्रित ठाकोरदासवाली "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" के अन्त में मुद्रित हुआ था।¹⁷ स्पष्टतः यह भारतेन्दु-युग के 'सूर-शतक' से भिन्न है। श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी का कहना है काशी के बाबू बालकृष्ण दास ने सन् १८८२ ई० में टीका लिखकर सन् १८८९ में खडग्विलास प्रेस बाँकीपुरसे "सूरशतक पूर्वार्ध अर्थात् सूरदासजीकृत पदों की टीका" नाम से छपाई थी। जिसे 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा संगृहीत, परिवर्धित और संशोधित' बताया गया था। इसकी विषय-वस्तु साहित्य-लहरी वाली ही थी किन्तु चतुर्वेदीजी के अनुसार इसमें 'मुनि पुनिरसन के रस लेख' पद नहीं था अतः उनके मत में साहित्यलहरी नाम प्रामाणिक नहीं।¹⁸

साहित्यलहरी और भारतेन्दु

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी की धारणा के विपरीत सन् १८८२ की टीका ही साहित्यलहरी की सबसे पुरानी टीका नहीं है, न १८८९ ई० की प्रकाशित प्रति ही सबसे पुरानी मुद्रित प्रति है। सरदार कवि की टीका बालकृष्ण दास की टीका से ३५ वर्ष पहले सं. १९०४ में लिखी गयी। उस टीका का प्रथम मुद्रण भी बालकृष्ण दास की टीका के मुद्रण के बीस साल पहले सन् १८६९ ई० में हुआ¹⁹ बनारस के लाइट प्रेस से लीथो में छपी उक्त प्रति का उपयोग श्री प्रभुदयाल मीतल ने साहित्यलहरी के सम्पादन में किया है। उनकी सूचना के अनुसार सन् १८६९ की प्रति में १०८ वां पद रचनाकाल का है और १०९ वां पद वंश-परिचय का है। सन् १८९२ ई० में बाँकीपुर में खडग्विलास प्रेस से छपी भारतेन्दु की टिप्पणी युक्त प्रति में भी १०९ पद रचना-काल का और ११८ वाँ वंशपरिचय का है। 'साहित्यलहरी' नाम भी दोनों प्रतियों में मिलता है।²⁰ भारतेन्दु की टिप्पणियों वाला संस्करण छपा तो बालकृष्णदास वाली प्रति के तीन वर्ष बाद किन्तु उसकी टिप्पणियाँ सन् १८८९ के कम से कम छः वर्ष पहले लिखी होंगी क्योंकि भारतेन्दुजी की मृत्यु सं. १९४१ में हुई। अतएव सन् १८८९ की प्रति में दो पद किसी कारण सचमुच छूट गए या छोड़ दिये गये तो भी यह सचाई बनी ही रहती है कि साहित्यलहरी नाम और दोनों पदों से भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बाबू राधाकृष्णदास और बाबू रामदीनसिंह (खडग्विलास प्रेस के मालिक) परिचित थे और उन्हें प्रामाणिक मानते थे।

वेङ्कटेश्वर प्रेस से सूरसागर का प्रथम संस्करण सं० १९५३ में निकला था। बाद

के संस्कारणों में पदों की संख्या और पाठ में अन्तर आया है पर भूमिका में छपी सामग्री पूर्ववत् चली आ रही है। इसमें बाबू राधाकृष्णदास ने सूर का काल-निर्णय करने में 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' का उपयोग किया है। साथ ही भारतेन्दु का सूर-विषयक एक नोट छपा है जिसमें वे कहते हैं—“चौरासी वार्ता, उसकी टीका, भक्तमाल और उसकी टीका में इनका जीवन विवृत किया है। इन्हीं ग्रन्थों के अनुसार संसार को (और हमको भी) विश्वास था कि ये सारस्वत ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम रामदास, इनके माता-पिता दरिद्री थे, ये गऊघाट पर रहते थे, इत्यादि। अब सुनिये एक पुस्तक सूरदास जी के दृष्टिकूट पर टीका (टीका सम्भव है उन्हीं की है, क्योंकि टीका में जहाँ अलंकारों के लक्षण दिये हैं वह दोहे और चौपाई भी सूर नाम से अंकित हैं) मिली है। इस पुस्तक में ११६ दृष्टिकूट के पद अलंकार नायिका इत्यादि सब के क्रम से हैं और उनका स्पष्ट अर्थ और उनके अलंकार और नायिका इत्यादि सब लिखे हैं। इस पुस्तक के अन्त में कवि ने अपना जीवनचरित्र दिया है जो नीचे प्रकाश किया जाता है। अब इसको देखकर सूरदासजी के जीवनचरित्र और वंश को हमलोग और ही दृष्टि से देखने लगे हैं।.....इस लेख से और लेख अशुद्ध मालूम होते हैं।..... जो हो हमारी भाषा कविता के राजाधिराज सूरदासजी एक इतने बड़े वंश के हैं यह जानकर हम लोगो को बड़ा आनन्द हुआ।”^{११}

श्री हरिश्चंद्रचन्द्रिका, खण्ड ६, संख्या ५ में छपे भारतेन्दु कृत सूर के जीवन-चरित्र से ज्ञात होता है कि जिस हस्तलिखित पुस्तक का ऊपर उल्लेख है वह नवम्बर १८७८ में भारतेन्दु के पास थी। वह सरदार कवि की टीका से भिन्न किसी प्राचीनतर टीका से युक्त और अधिक पुरानी थी। उसके बारे में मीतलजी का वक्तव्य मनन-योग्य है :

“.....उसी के आधार पर उन्होंने अपनी टिप्पणी में सरदार कवि के पाठांतर और अर्थ-परिवर्तन की सूचना दी है। “साहित्य-लहरी” के प्रथम पद पर ही भारतेन्दु जी की टिप्पणी इस प्रकार हुई है—

“सरदार कवि ने अपनी टीका में इस पद का पाठांतर भी किया है और अर्थ में भी बदला है।”

इस टिप्पणी के बाद उन्होंने सरदार के मूल पद और उसकी टीका का पाठ भी उद्धृत किया है ताकि वह परिवर्तन स्पष्ट हो सके। इस प्रकार के परिवर्तन पद संख्या २, २१, २५, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३६ तथा ८८, ११०, ११२, ११३, ११५, ११६ और ११८ में भी बतलाये गये हैं। भारतेन्दुजी की प्रति में सं० ११७ वाले ‘इन्द्र उपवन इन्द्र अरि दनुजेन्द्र इष्ट सहाय’ वाले पद की टीका नहीं थी। इसे उन्होंने सरदार की प्रति उद्धृत करते हुए अपनी टिप्पणी में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

“इस (पद) का टीका नहीं था, परन्तु सरदार कवि ने लिखा है, वह प्रकाश किया जाता है।”

सरदार कवि और भारतेन्दु हरिश्चंद्र की प्रतियों में ‘साहित्यलहरी’ के पद-क्रम

में भी अन्तर है। सरदार की प्रति का सं० २० वाला पद 'राधे ! तँ कत मान कियो री' भारतेन्दुजी की प्रति में नहीं है, तथा भारतेन्दुजी की प्रति के सं० ३० और ३३ वाले पद 'ब्रज में आजु एक कुमार' और पिय बिनु बहुत बैरिन वाइ' सरदार की प्रति में नहीं हैं।^{१४} इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने किसी समकालीन व्यक्ति या सरदार कवि के प्रभाव से नहीं, दोनों पदों समेत 'साहित्यलहरी' को प्रामाणिक माना था प्राचीनतर सामग्री को देखकर।

भारतेन्दु ने एक हस्तलेख की टीका को सूर कृत मान लिया यह उनकी भ्रांति थी। इस भ्रांति का कारण पद-संख्या ९० की टीका में 'सूर' छाप का मिलना था। मीतलजी कहते हैं—'सूर के नाम का उल्लेख केवल एक पद की टीका के साथ मिलता है, अन्य पदों की टीका के साथ नहीं। इसे भी कवि-छाप न समझकर टीकाकार द्वारा 'सूर' के नाम का उल्लेख मात्र कहा जा सकता है।..... फिर भी यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि सरदार कवि के पहले किसी ने साहित्यलहरी की टीका अवश्य की थी।'^{१५} वा० रामदीन सिंह भी टीका को सूर कृत नहीं मानते थे। उनका कहना था कि टीका भारतेन्दु को "विशेष अनुसंधान" से मिली थी और "सरदार कवि ने उसी को कुछ घटा बढ़ाकर अपने नाम से प्रकाशित किया है।'^{१६} मूल क्या, टीका के बारे में भी वा० रामदीन सिंह सरदार कवि को श्रेय नहीं देते। मीतलजी का मत भी वैसे ही है :—

"..... सरदार कवि इसका टीकाकार माना जाता है फिर भी यह निश्चित है कि उसने न तो 'साहित्यलहरी' के और न 'सूरसागर' के ही समस्त कूट पदों पर टीका लिखी थी; क्योंकि 'साहित्य-लहरी' की भांति 'सूरसागर' में से संकलित कुछ पद भी इस प्रति में दो बार आये हैं, और उनके पाठ और टीका की भाषा में अन्तर है। यदि सरदार कवि ही इन सबका टीकाकार होता, तो वह ऐसी भूल कदापि नहीं करता।

ऐसा मालूम होता है, काशिराज ने सरदार कवि से सूर के दृष्टिकूट पदों पर एक टीका ग्रन्थ प्रस्तुत करने को कहा होगा। इसके लिए सरदार ने 'साहित्यलहरी' की किसी प्राचीन टीका में कुछ परिवर्तन कर और सूरसागर के कुछ सटीक दृष्टिकूट पदों का संकलन कर तथा कुछ पदों पर नई टीका लिखकर स्वरचित मंगलाचरण एवं पुष्पिका के साथ यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया था।'^{१७}

सरदार कवि की टीका और भारतेन्दु कृत टीका में पदों की संख्या, क्रम, पाठ और अर्थ में जो भिन्नता है वह विशेष रूप से विचारणीय है। सरदार कवि, जो वा० रामदीन सिंह और मीतलजी द्वारा दी गयी जानकारी से बहुत परिश्रमी नहीं लगते, इतने परिवर्तन मनमाने ढंग से नहीं कर सकते थे। आधारभूत प्रतियों का एक सा न होना ही इसकी सन्तोषजनक व्याख्या दे सकता है। जिस प्रकार भारतेन्दु के पास सरदार की टीका युक्त हस्तलिखित प्रति के अतिरिक्त दूसरी प्राचीनतर सटीक प्रति थी, उसी प्रकार सरदार के पास भी कम से कम दो हस्तलिखित प्रतियां थीं। उनमें से एक तो टीका जो भारतेन्दु को भी मिल गयी थी और दूसरी उससे भिन्न, कम से कम उतनी ही पुरानी तथा सम्भवतः सटीक जो भारतेन्दु को उपलब्ध नहीं थी।

इसका अर्थ यह है कि सरदार कवि के पहले ही 'साहित्यलहरी' के कम से कम दो तरह के हस्तलेख प्रचलित हो चुके थे जिनमें पदों में क्रम, संख्या और पाठ में भिन्नता आ गयी थी। किसी ग्रन्थ की दो-तीन टीकाएं होना और उनमें पाठांतर आना लम्बा समय बीतने पर ही सम्भव है। इससे ग्रन्थ की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध होती है। आज यदि हस्तलेख नहीं मिलते तो पूर्व काल में उनका होना असिद्ध नहीं होता। भारतेन्दु के बाद हस्तलेखों के सहसा लुप्त हो जाने के कारण कीड़े-मकोड़े भी हो सकते हैं और 'साहित्यलहरी' को अप्रामाणिक सिद्ध करने को कटिबद्ध ब्रह्मभटों से विद्वेष रखने वाले भी जिनकी संख्या हिन्दी संस्थाओं में कुछ कम नहीं है।

वंशावली का पद

वंश-परिचय का पद भी पाठभेदों के प्रसंग में विचारणीय है। मीतलजी द्वारा काम में लायी गयी चार मुद्रित प्रतियों में से चारों में ही यह प्राप्त है। वैसे मीतलजी ने पाठांतर अनेक दिये हैं किन्तु वे इसे सूर कृत नहीं मानते अतः परिशिष्ट में रखे गये इस पद का सम्पादन उन्होंने अच्छे ढंग से नहीं किया, पद की निम्न पंक्ति उन्होंने किसी पाठांतर के बिना ही दे दी है :

सो समर करि साहि से, सब गए विधि के लोक ।

यह पाठ सरदार कवि की टीका है वेङ्कटेश्वर प्रेस के सूरसागर में छपे भारतेन्दु जी के नोट में यह पद पूरा उद्धृत है और उनका पाठ है :—

सो समर करि साहि सेवक, गए विधि के लोक ।

पाठ की यह भिन्नता महत्वपूर्ण है। भारतेन्दु का पाठ ठीक हो तो सूर के छहः भाई किसी शाह के सेवक थे और उस शाह के लिए लड़ते हुए निहित हुए। इसी पाठ को लेकर डा. पीताम्बरदत्त बड़थवाल ने अनुमान किया था कि सूर के भाई लोदियों की सेवा में थे और बाबर के विरुद्ध लड़ते हुए पानीपत के युद्ध में खेत रहे थे। डा० मुन्शीराम शर्मा ने 'सूर-सौरभ' में पाठ तो सरदार कवि का लिया है किन्तु माना यही है कि सूर के भाई लोदियों के लिए लड़े थे। लोदी वंश में मंदिर तोड़नेवाला हो चुका था और इब्राहीम लोदी घमंडी और नालायक था। उसके लिए एक ब्राह्मण कुल मर मिटा और उसके रत्न सूर ने उसका गर्व के साथ बखान किया यह बात कुछ जंचती नहीं।

किन्तु यदि वे लोदियों के सामन्त या सेवक नहीं थे तो वे किस लड़ाई में खेत आये ? इसका उत्तर देना कठिन नहीं यदि हम सूर का जन्म सं० १५३५ या उसके पूर्व मानने का हठ छोड़ दें। सं० १५७४ में धर्मान्ध सिकन्दर लोदी ने श्री कृष्ण जन्म स्थान वाले उस मन्दिर को तोड़ा था जिसे कन्नौज के राजा विजयपालदेव ने सं० १२१२ में बनवाया था। बल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थ सिकन्दर लोदी को वल्लभाचार्य का भक्त सिद्ध करना चाहते हैं। अतः वे इस सम्बन्ध में मौन हैं। किन्तु मंदिर निर्विरोध तोड़ डाला गया। यह बात विश्वसनीय नहीं। इसी अवसर पर ग्वालियर से आये सूर के भाइयों ने लोदियों से लोहा लिया। प्रश्न धर्म का था अतः वंशरक्षा की चिन्ता न करके पिता समेत छः भाइयों का लड़ते हुए मर मिटना समझ में आनेवाली बात है।

सूर भी उसी समय मथुरा आये थे पर उनकी उम्र १२-१३ से अधिक नहीं थी अतः युद्ध में शामिल नहीं हुए। इस घटना के बाद शोकार्त सूर अन्धे होकर ब्रज में ही रहने लगे।

फिर उन्होंने वह स्वप्न देखा जिसने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। स्वप्न में ही उन्हें आदेश मिला कि भावी गुरु के लिए प्रतीक्षा करो, दक्षिण के एक प्रतापी ब्राह्मण आध्यात्मिक पथ के बाधक षडरिपुओं का नाश करेंगे, तुम उन्हें समस्त बुद्धि विवेक विद्या का मानदण्ड मान उनकी शिक्षा को मानना। इस तरह का स्वप्न अस्वाभाविक नहीं था क्योंकि उस युग में बिना आचार्य प्रायः दक्षिण के ब्राह्मण होते थे। इस आदेश के बाद सूर के लिए भावी गुरु की प्रतीक्षा करना स्वाभाविक था। पद में कहीं भी ऐसा नहीं कहा गया है कि सूर ने संन्यास-दीक्षा ली थी या वल्लभाचार्य को छोड़ दूसरे किसी को कभी गुरु बनाया था अतः मिश्रवन्धुओं या डा. मुन्शीराम शर्मा की भांति जो वल्लभाचार्य से भेट के पूर्व उन्हें किसी दूसरे सम्प्रदाय में दीक्षित मानते हैं उन्होंने इस पद के भाव को यथार्थ रूप में ग्रहण नहीं किया है। गौघाट पर रहते समय 'सूर' स्वामी कहलाते थे, इससे उनका किसी सम्प्रदाय में दीक्षित होना सिद्ध नहीं होता ब्राह्मणों तथा ब्रह्मचारियों के लिए 'स्वामी' शब्द का व्यवहार असम्भव नहीं फिर भक्त जन अन्धे सूर को अकेला नहीं छोड़ सकते थे, कुछ सदा पास रहकर सेवा करते। ऐसे भक्त 'सेवक' कहलाते यह भी कुछ अनहोनी बात नहीं।

चमत्कारों पर विश्वास करने की आदत के कारण वंशवली वाले पद के विरुद्ध यह आपत्ति आज तक किसी ने नहीं उठाई कि इसमें कुएं से स्वयं भगवान् द्वारा निकाले जाने और दिव्यदृष्टि पाने का वर्णन है। वास्तव में यही एक उचित आपत्ति इस पद के विरुद्ध उठायी जा सकती है। यह आपत्ति और कुआ कहां था, कितना गहरा था, उसमें जल था या नहीं आदि सारे तर्क बेकार हो जाते हैं यदि हम समझ लें कि कूप-पतन, उद्धार, दिव्यदृष्टि, भगवान् के दर्शन और सारी बातचीत स्वप्न की घटना है। दृष्टिकूट शैली के अनुसार 'भए अन्तदर्शन बीते पाछिली निसियाम' कहकर इसका संकेत सूर ने दे दिया है। यह मानना हास्यास्पद होगा कि सूर को कुएं से निकालने और उनसे दो-चार बातें करने में भगवान् ने सारी रात बिता दी। सही अर्थ यह है कि सूर ने स्वप्न रात के अन्तिम प्रहर देखा था और इसलिए उसका सत्य होना उन्हें संदेह से परे लगा था। उसी प्रकार यह तर्क भी असंगत है कि 'दिव्य-चख' पाने के बाद सूर ने भगवान् से मांगी तो "वह भक्ति जिसका स्वभाव ही शत्रुनाश करना है" पर कामना के मुगलों के पराभव की कर रहे थे !

वल्लभ-सम्प्रदाय के विख्यात कवि नागरीदास ने 'पदप्रसंगमाला' में बताया है कि सूर जब वल्लभाचार्य से पहली बार मिले तब वल्लभाचार्य ने उन्हें 'लरिका' कहकर सम्बोधित किया था। सं० १५७४ में उनकी उम्र १२-१३ वर्ष की रही हो तो उनका जन्म सं० १५६१ के लगभग हुआ होगा। डा० मुन्शीराम शर्मा ने तर्कसंगत कारणों से उनके वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने का समय सं० १५८१ के लगभग माना है। उस समय वल्लभाचार्य की उम्र ४६ वर्ष और सूर की उम्र २० वर्ष के लगभग होने से

‘लरिका’ सम्बोधन स्वाभाविक है। साहित्यलहरी की रचना के समय सूर की उम्र ४६ वर्ष की थी जब कि अन्यमतों से ६२ वर्ष या अधिक आती है। अलंकार और नायिका भेद विषयक ग्रन्थ की रचना के लिए स्वाभाविक उम्र ४६ है या ६२, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लेंगे।

रचनाकाल

‘मुनि पुनि रसन के रस लेख’ पद में वैशाख मास, अक्षय तृतीया, रविवार, सुकर्म योग और कृत्तिका नक्षत्र निर्विवाद समझे जाते हैं किंतु संवत् के बारे में विवाद है। सं० १६०७, १६१७, १६२७ और १६७७ ये चार सं० सुझाये गये हैं। इनमें से मान्य वही होगा जो दृष्टिकूट शैली के अनुकूल हो और जिससे सारी बातों का मेल बैठ जाय।

जो विद्वान् सं० १६७७ अर्थ लेते हैं उनके बारे में मुनि=७, पुनि=पुनः, मुनि=७, रसन के रस=६, दसन गौरीनन्द को=१ होना चाहिए। सं० १६२७ माननेवाले ‘मुनि’ का अर्थ ६, ‘रसन’ का रसना और फिर उसके रो कार्यों (स्वाद-ग्रहण और भाषण) के आधार पर २, रस का ६ और ‘दसन गौरीनन्द को का अर्थ १ लेते हैं। सं० १६१७ माननेवाले ‘रसन’ का अर्थ दो के बदले एक लेते हुए अन्य बातों में सं० १६२७ माननेवालों अनुसरण करते हैं। सरदार कवि ने अपनी टीका में कोई व्याख्या नहीं होने पर सं० १६०७ अर्थ ही माना था। भारतेन्दु, बा. राधाकृष्ण दास, मिश्र बन्धु और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी सं० १६०७ माना। भारतेन्दु और राधाकृष्ण दास ने फिर भी ‘रसन’ का अर्थ ‘एक’ लिखा जिससे विवादों का पथ प्रशस्त हो गया।

सुबल सं० क्या है और वह इनमें से किस वर्ष में पड़ता है यह जानकारी हमारी समस्या का हल कर सकती है। ज्योतिषोक्त संवत्सर साठ हैं जिनमें उक्त नाम का कोई नहीं है। स्पष्टतः दृष्टिकूट शैली द्वारा ज्योतिषोक्त साठ संवत्सरों में से किसी का निर्देश है और उक्त वर्षों में कब कौन पड़ता है, उसके लिए ‘सुबल’ शब्द उपयुक्त है या नहीं, यह विषय विचारणीय है।

किस वर्ष कौन संवत्सर है ? इसे जानने का उपाय यह है—‘शक वर्ष को दो स्थानों पर लिखो। एक स्थान पर २२ से गुणा कर ४२११ जोड़ो, तथा उसमें १८७५ का भाग दो। जो लब्धि हो उसको दूसरे स्थान पर लिखे शक वर्षों में जोड़कर साठ का भाग देने से शेष जो बचे उसमें एक जोड़ देने से संवत्सरादि क्रम में संवत्सर होगा।’^{१६} इस पद्धति से सं० १६७७ में शुक्ल सं० १६२७ में बहुधान्य, सं० १६१७ में विभव और सं० १६०७ में कालयुक्त आता है। इस प्रकार की गणना से डा० दीन दयालु गुप्त का सं० १६१७ में और डा० मुन्शीराम शर्मा का सं० १६२७ में वृष मानना संगत नहीं लगता। गणना से प्राप्त संवत्सरों में से कालयुक्त के लिए ही सुबल संगत प्रतीत होता है क्योंकि काल का बल प्रसिद्ध ही है :—

पुरुष बली नहिं होत है, समय होत बलवान ।

भीलन लूटी गोपिका, सोइ अर्जुन सोइ बान ॥

इससे साहित्यलहरी का रचनाकाल सं० १६०७ मानना ही उचित लगता है।

सं० १६०७ का अर्थ ग्रहण करने में मुख्य आपत्ति यह रही है कि 'रसन' का अर्थ 'शून्य' नहीं हो सकता। किंतु सरदार कवि आदि ने कभी भी यह नहीं कहा कि 'रसन' का अर्थ 'शून्य' है। मुनि=७, पुनि=पूर्ण=०, रसन के रस=६, दसन गोरीनन्द की=१, इस प्रकार 'अङ्कानां वामतो गतिः' के नियम से निकल आता है। इसमें 'रसन के रस' को खंडित नहीं किया गया, न 'पुनि' को निरर्थक समझा गया है जैसा कि सं० १६१७ और सं० १६२७ अर्थ मानने वाले करते हैं। सं० १६१७ का अर्थ निकालने के लिए 'रसन' (रसना) से 'दो' का ग्रहण विशेष रूप से आपत्तिजनक है क्योंकि दो जीभें तो सापों की ही सुनी जाती हैं। सं० १६७७ का अर्थ तो 'साहित्य-लहरी' को सूर-कृत न मानने के आग्रह की उपज है।

पद में 'नवीन' का प्रयोग सूर के लिए नहीं, 'नन्दनन्दनदास' के लिए किया गया है इसमें संदेह नहीं क्योंकि जिस कवि ने वंशावलीवाले पद में अपने को अष्टछाप का सूर बताया (थपि गुसाई करी मेरी आठ मध्ये छाप) वही दूसरे पद में अपने को 'नवीन सूर' नहीं कह सकता। वल्लभ-सम्प्रदाय में कई कृष्णदास थे, 'नन्दनन्दनदास' विशेषण बनके लिए उपयुक्त ही था। नन्ददास जब आये तो एक 'नीवन नन्दनन्दनदास' हो गये। वल्लभ-सम्प्रदाय में इस घटना का समय सं० १६०७ मानना परम्परानुकूल है। अतः सूर ने सं० १६०७ में नन्ददास के लिए 'साहित्यलहरी' रची ऐसा मानना ही उचित ठहरता है।

फिर भी आपत्ति रह जाती है नक्षत्र और वार के बारे में। डा० माता प्रसाद गुप्त ने १७ वीं शती के प्रत्येक दशक के सातवें सं० की अक्षय तृतीया के वार और नक्षत्र की गणना की थी, जिसके फल देते हुए वे मीतलजी कहते हैं—“संवत् १६१७ की अक्षय तृतीया को रविवार तो था, किंतु नक्षत्र कृत्तिका न हो कर मृगशिरा था; और सं० १६२७ की अक्षय तृतीया को कृत्तिका नक्षत्र तो था किंतु वार रवि न होकर शनि था। सं० १६०७ और सं० १६७७ को अक्षय तृतीया को न तो रविवार था न कृत्तिका नक्षत्र ही। इस प्रकार 'साहित्यलहरी' के रचनाकाल की समस्या का संतोषजनक समाधान गणना द्वारा भी नहीं हो पाता है। इससे यही समझा जावेगा कि या तो पद के दृष्टिकोट पदों में कोई भूल है अथवा गणना करने में कोई त्रुटि हुई है।^{१९}

मेरी विनम्र सम्मति में समाधान सम्भव है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने बताया है कि सं० १६०७ की अक्षय तृतीया को शनिवार और रोहिणी नक्षत्र था। यहां शनि के अतिरिक्त रवि को तृतीया होना सम्भव है और शुभ कार्यों में उसी का ग्रहण किया गया होगा। ऐसा होता ही रहता है। सं० २०३९ में अक्षय तृतीया सोमवार मानी गयी जबकि २५ अप्रैल १९८२ को ही तृतीया लग गयी थी। नक्षत्र फिर भी उलझन में डालता है। हस्तलेखों के अब अप्राप्य होने से हम नहीं कह सकते कि प्रेस-कापी तैयार करने वालों ने हस्तलेख को पढ़ने-लिखने में भूलचूक नहीं की। लिपिकारों की असावधानी अथवा अज्ञता से भी मूल पाठ विकृत होना सम्भव है। कुछ भी हो, तृतीय रिच्छ' की जगह मूल पाठ 'तुरिय रिच्छ' था यह सम्भावना विचारणीय है। तुरिय=तुरीय=चतुर्थ नक्षत्र रोहिणी है जो सं० १६०७ में अक्षय तृतीया के दिन अवश्य ही था।

सन्दर्भ-सूची

१. सीतराम चतुर्वेदी सम्पादित 'सूर-ग्रंथावली' (प्रथम भाग), अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, सं २०३१, पृ० ५०।
२. लक्ष्मीसागर वाष्णोय, हिन्दी साहित्य का इतिहास, सन् १९५६, पृ० १६२।
३. बटेकृष्ण, रसखान का समय, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६०, अंक १-४, सं० २०१२, पृ० ४४-४५।
४. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाराणसी, सं० २०१५, पृ० १९५।
५. पूर्वोक्त, पृ० १९८
६. पूर्वोक्त, पृ० १९७
७. पूर्वोक्त, पृ० १९६
८. पूर्वोक्त पृ० १९६
९. प्रभुदयाल मीतल और द्वारिकादास परीख, सूर-निर्णय, साहित्य संस्थान, मथुरा, तृतीय संस्करण, सं० २०१८, पृ० १६०-१७१
१०. जवाहरलाल चतुर्वेदी, सूरदास और उनकी काव्य-कृतियां, 'परिषद्-पत्रिका, वर्ष १, अंक ३
११. प्रभुदयाल मीतल (सं), साहित्यलहरी, साहित्य संस्थान, मथुरा, सं० २०१८ (प्रथम संस्करण), भूमिका, पृ० ५
१२. पूर्वोक्त, भूमिका, पृ० ६, १२, १७-१८
१३. सूरसागर, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० २०१३, भूमिका, पृ० ४-५
१४. प्रभुदयाल मीतल (सं०), साहित्यलहरी, प्रथम संस्करण, भूमिका, पृ० ११-१२
२५. पूर्वोक्त, पृ० ३२
१६. साहित्यलहरी सटीक, प्रथम संस्करण, बांकीपुर, सन् १८९२, पृ ३८
१७. प्रभुदयाल मीतल (सं०), साहित्यलहरी, भूमिका, पृ० ३३
१८. नारायणदत्त श्रीमाली, सुबोध प्रारम्भिक ज्योतिष, हिन्दी, १९७१, पृ० १९
१९. प्रभुदयाल मीतल (सं०), साहित्यलहरी, भूमिका, पृ० १६

—(उपेन्द्रनाथ राय)

ग्राम व डाक०—मेटेली

जिला—जलपाईगुड़ी (WB)

पिन—७३५२२३

‘कपूर्मंजरी’ का सौन्दर्य निकष

□ समणी प्रसन्न प्रज्ञा

‘कपूर्मंजरी’ नामक नाट्यकृति साहित्य जगत् को अद्भुत देन है। खेद का विषय है कि इा एकमात्र शृंगारिक कृति के रूप में ही देखा गया है। लेकिन गहराई से अध्ययन करें, तो इसमें काम व शृंगार के भद्दे प्रदर्शन की जगह चरित्रनिष्ठ सौन्दर्य को हस्तगत किया जा सकता है। शृंगार का जो वर्णन हुआ है वह भी मूल स्वरूप तक पहुंचाने का साधन मात्र है। या यूं कहें सट्टकीय विद्या का निर्वहन मात्र है। साध्य तो वही सत्य, शिव और सुन्दर ही है।

यदि दृष्टिकोण सम्यक् हो तो हर वस्तु सम्यक् स्वरूपा प्रतीत होकर आनन्द-दायिनी बन जाती है। दृष्टिकोण की विकृति वस्तु को भी विकृत बना देती है। प्रज्ञा जागरण के बाद कोई भी विकृति, विकृति नहीं रहती है।

भद्ं होउ सरस्सईअ’

कवि राजशेखर ने ग्रंथारम्भ में सरस्वती देवी की स्तवना प्रस्तुत की है। सरस्वती विद्या की देवी है। यदि कवि का दृष्टिकोण केवल शारीरिक शृंगार को ही प्रकट करना होता तो कवि सर्वप्रथम विद्या की देवी की आराधना और उसके प्रति श्रद्धा प्रकट न कर किसी रमणी, सुन्दरी के प्रति अपने श्रद्धा के भावों का अर्पण करता। यदि किसी का धन के प्रति लालच है तो वह लक्ष्मी की आराधना करता है, यदि शक्ति की आकांक्षा है तो वह दुर्गा को प्रसन्न करता है। कपूर्मंजरी का कवि विद्या का प्रेमी है। जो सदाचरण को धारण करे वही विद्वान् होता है। अतः विद्या की देवी को इष्ट मानना ही कवि के सदाचरण व सत्त्वगुण के प्रति गढ़ अनुरक्ति का परिचय देता है।

णंदंतु’

कवि ने कहा व्यासादि कवि आनन्दित होंवें। इस णंदंतु क्रियापद से कवि की आध्यात्मिकता का अन्दाज लगाया जा सकता है। कवि का आनन्द प्राप्त का दृष्टिकोण शारीरिक स्तर पर नहीं शरीरातीत आनन्द पर टिका हुआ है।

कपूर्मंजरी का सौन्दर्य बोध णंदंतु के आधार पर होगा यह अग्रिम सजगता का प्रयोग हुआ है। भास, कालिदास, भवभूति आदि की वाणी उत्कर्ष को प्राप्त करे—यह कथन भी उदात्त है। इन कवियों की वाणी शिव और मंगल की पूर्ण प्रतिष्ठायिका है। उस वाणी के उत्कर्ष की कामना कर कवि ने स्वदृष्टिकोण को स्पष्ट किया है कि

वह वाणी उत्कर्ष को प्राप्त होती है जो कि सौन्दर्य का बोध करवाती है। 'पदंनु' शब्द टुनदि (अतिशय आनन्दे) से सम्पन्न होता है। अतः इसका लक्ष्य मात्र आनन्द की स्थापना है।

फुरउ^३

इस पद के द्वारा कवि ने यह कामना की है कि बौद्धि, मागधी और पाञ्चाली रीतियां हमारे काव्य में स्फुरित हों। स्फुरणा शब्द अपने आप में गूढ़ अर्थ को छिपाए हुए हैं। यह भी इन्द्रियातीत आनन्द का परिचायक है। स्फुरणा की क्रिया कभी भी शारीरिक स्तर पर नहीं हुआ करती है। वह तो अन्तः आनन्द से ही संभव हो सकती है। अतः फुरउ शब्द का प्रयोग कवि के अन्तः आनन्द के भावों का प्रकटीकरण है। स्फुरणा का अर्थ है—उत्तरोत्तर विकासावस्था की प्राप्ति। यह तभी घटित होता है जब कवि या कलाकार अन्तश्चेतना की आनन्दमयी स्वरलहरियों में निमज्जित रहता है।

विलिहंतु^४

विलिहंतु का अर्थ है आस्वादन। रूप का आस्वादन चेतना के स्तर पर ही संभव है। शारीरिक स्तर पर तो रोमांच ही हो सकता है।

कवि इस ग्रंथ को पढ़ने की नहीं, देखने की नहीं बल्कि आस्वादन करने की प्रेरणा दे रहा है। किसी वस्तु का आस्वादन तभी किया जा सकता है जब उसे चबा-चबा कर खाया जाए। कवि इस बात से अभिन्न था कि जो बिना चबाये ही इस ग्रंथ को निगलने की कोशिश करेंगे, उन्हें यह ग्रंथ वैसे ही दुःखदायी हो सकता है जैसे बिना चबाया भोजन उदर को दुःखदायी होता है। यहां आस्वादन शब्द का प्रयोग तह तक पहुंचकर प्रसन्नता में प्रांतर्णित हो सकता है जो आस्वादन सामर्थ्य से युक्त हो, भग्नावरणचित्तविशिष्ट हो, विमलमति सम्पन्न हो। एक ही श्लोक में हमें इतने विशाल अर्थ को छुपाए हुए ये पद प्राप्त हुए हैं।

द्वितीय जवनिका में आंगिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है—

अत्थाणीजणलोअणाण बह्ला लावण्यकल्लोलिणी ।^५

अर्थात् वह सभासदों के नेत्रों के लिए लावण्य की विस्तृत कल्लोलिनी (तरङ्गवती नदी) है। यहां लावण्य शब्द का प्रयोग केवल आंगिक सौन्दर्य को ही प्रकट नहीं कर रहा है। लवण का अर्थ श्रेष्ठरस होता है जो सर्वजन प्रिय होता है। क्योंकि कहा गया है—लवण... 'स्यात्पटुरसान्विते ।'^६

लवण के भाव को लावण्य कहते हैं— लवणस्य भावः लावण्यम् ।

अर्थात् रस का उद्रेक जहां हो उसे लावण्य कहते हैं। रूप की अनाविल छटा को लावण्य कहते हैं। लावण्य कल्लोलिनी का अर्थ हुआ—रसमयी नदी जिसे देखकर सहज ही चित्त द्रवित हो जाए।

सोहगपालि^७

सौभाग्य की आश्रयभूता अर्थात् परम सौभाग्यशालिनी। सुभग शब्द से सौभाग्य

बनता है जो महदैश्वर्य का सूचक है। तात्पर्य है वैसी रूप सम्पन्ना युवति जो परम-विभूति और अनाविल ऐश्वर्य की खनि हो।

णत्तैदीवरदीहिआ

काव्यजगत् में नेत्रों को प्रायः कमल की उपमा से उपमित किया जाता है। आमतौर पर नेत्रों को कमल की उपमा देने का अर्थ भी आंगिक सौन्दर्य तक ही सीमित रह गया है। लेकिन यदि हम नेत्रों को कमल की उपमा निलिप्तता से लगाएं तो इसके हार्द तक पहुंचने में सफल हो पायेंगे क्योंकि व्यक्ति की दृष्टि ही पवित्रता व अपवित्रता का प्रथम कारण होती है। कर्पूरमञ्जरी में भी वर्णित कमल की उपमा आंगिक सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है, वह दृष्टि पावित्र्य का भी स्पर्श करती है।

चित्ते पहट्टइ ण खुट्टइ सा गुणेसु

चित्त पर अधिकार कर लेती है लेकिन गुण सर्वदा बढ़ते रहते हैं। यहां क्षण-क्षण वर्धमान उसका सौन्दर्य गुणाधारित सौन्दर्य है। यदि यहां सौन्दर्य क्षण-क्षण वर्धमान नहीं होता तो वह निश्चय ही वासनाजनक होता और जिसे हम तुच्छता की संज्ञा भी दे सकते थे लेकिन यहां तो आंगिक व गुणसंयुक्त उसका सौन्दर्य स्वतः पूज्य बन पड़ा है। जो नित्य नूतन है, चिर नवीन है।

असीम सौन्दर्य का प्रत्यक्ष दर्शन करवाने वाली इस पंक्ति के तात्पर्य को कौन नकार सकता है —

सेज्जाए लुट्टदि विसप्पइ दिम्मुहेसु।^{१*}

अर्थात् जो सतत शय्या पर लौटती है पर शरीर का विषय नहीं बनती है वह तो चहुं दिशाओं में व्याप्त है अर्थात् कण-कण में उसका अस्तित्व समाया हुआ है तो वह शारीरिक चेष्टा का विषय बन भी कैसे सकती है। जो सर्वत्र व्याप्त है फिर भी जिसका आंगिक ग्रहण असंभव है।

इसी प्रकार उसकी दृष्टि में एक अपूर्व शक्ति संयोजित है। जिस किसी व्यक्ति पर इसका हल्का सा दृष्टिपात भी होता है वह व्यक्ति अहंकार विलय की अवस्था को प्राप्त होता है। वह उसमें इतना अनुरक्त हो जाता है कि स्व स्वरूप (अहं) को क्षीण कर उसी रूपमयता को प्राप्त हो जाता है और यदि उसकी यह शक्ति संयुक्ता (कृपापूर्ण) दृष्टि पूर्ण रूप से किसी पर निष्पतन करती है तो वह व्यक्ति तो पूर्ण रूप से ही विकार रहित हो जाता है। वह तिलाञ्जलिदान योग्य हो जाता है, अर्थात् मर जाता है। उसके सम्पूर्ण विकार नष्ट हो जाते हैं। केवल शुद्ध स्वरूप ही शेष रहता है। यही कारण है कि कर्पूरमञ्जरी में वर्णित कर्पूरमञ्जरी का सौन्दर्य कभी भी हल्के स्तर का नहीं हो सकता। उसके पीछे अत्यधिक तप, संयम और आत्मिक पवित्रता का आधार निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होता है तभी तो—

जे तीअ तिक्खचलचक्खुतिहादिट्ठा.....^{१*}

कहकर उसके सौन्दर्य का गुणगान किया गया है।

उसकी आंखों को कमल समझकर भौंरे वहां मंडराते रहते हैं, अर्थात् जिसकी

आंखें कमल की तरह सुन्दर है। इतना ही नहीं क्योंकि भंवरे सुन्दरता के कारण कमल पर कभी नहीं मंडराते। कमल पर उनके भ्रमण का कारण है कमल का मधुर रस, उसकी कोमलता, मृदुता व स्निग्धता।^{१३}

मथे हुए दूध की उपमा भी अत्यधिक स्वच्छता का द्योतक है। मथा हुआ दूध जिस सफेदी को प्राप्त होता है वैसा ही उसकी आंखों का मध्यभाग स्वच्छ है जहां से विकार का कालापन कौनों दूर है।^{१३}

और कामदेव भी जिसका अनुसरण करने वाला है अर्थात् जिस सौन्दर्य के आगे कामदेव का सौन्दर्य भी फीका पड़ जाता है, वास्तव में वह किसी सघन तपस्या का ही परिणाम हो सकता है, जिसे अत्यन्त शुभ नामकर्मोदय की अवस्था ही कहा जा सकता है।

कवि ने रूप को विकार का कारण सिद्ध न करके विकास का कारण सिद्ध किया है। इसलिए कवि ने विदूषक के मुख से कहलाया—

तरुणो वि रूअरेहारहासेण फुल्लंति ।

ण उणो रइ रहस्सं जाणंति ।^{१४}

अर्थात् पेड़ पौधे रति का रहस्य नहीं जानते हैं फिर भी सौन्दर्य के रहस्य से विकसित हो जाते हैं। अतः वह सौन्दर्य कभी निन्दित नहीं कहा जा सकता। यदि कवि का दृष्टिकोण मात्र श्रृंगारिक होता तो रति के रहस्य को न जानने वाले पेड़ पौधों का विकास सौन्दर्य से न दिखाया होता। वहां फिर विकार ही प्रकाशित होता, विकास नहीं।

तृतीय जवनिकान्तर में कवि ने उसे स्वच्छ एवं शुद्ध लावण्य के सामने सभी सुन्दर वस्तुओं को उपेक्षित सिद्ध कर दिया है फिर चाहे वह चम्पा की कली हो, हल्दी हो, शुद्ध तपाया हुआ सोना हो या फिर केसर के फूलों का ढेर भी क्यों न हो।^{१५}

इसी जवनिका के तीसरे श्लोक में कवि ने वासनात्मक प्रेम व चैतसिक सौन्दर्य में बहुत सुन्दर ढंग से भेदरेखा खींची है।

स्वप्न में कर्पूरमञ्जरी को देखकर राजा उसे पकड़ना चाहता है पर वह छुड़ाकर शीघ्र चली जाती है। यहां कर्पूरमञ्जरी का ग्रहण न होना ही शुद्ध प्रेम का प्रतीक है, अगर यहां वासना की हल्की सी गंध भी होती तो वह छुड़ाकर नहीं भागती, राजा उसे पकड़ने में सफल हो जाता। लेकिन कवि ने उसे अप्राण्य बनाकर उस शुद्ध सौन्दर्य की स्थापना में तथा प्राण प्रवाहित करने में सचमुच सफलता प्राप्त की है।^{१६}

यही तथ्य आगे जाकर और अधिक स्पष्ट हो जाता है। जब कवि कहता है कि—

जस्सि विअप्पघडणा.....।^{१७}

अर्थात् जहां सन्देह का निराश तथा विश्वास की भूमि की संप्राप्ति होती है, विषय का परित्याग होता है। आनन्द रस का प्रवाह प्रवाहित होता है तथा जहां

निरन्तर सफलता की ओर गति होती है वहाँ प्रेम की रचना होती है ।

इन्द्रिय-व्यापार युक्त प्रेम घृणित व निन्दित हो सकता है पर शुद्ध प्रेम वास्तव में दुर्लक्ष्य होता है । इसी बात की पुष्टि के लिए कवि ने कहा—

दुलवखअं पि पअडेइ जणो जअम्मि ।^{१८}

जो प्रेम इन्द्रिय व्यापार तक सीमित रहता है वह प्रेम नहीं वासना है । शुद्ध प्रेम का आधार तो चित्त ही होता है । जो इन्द्रियों से दुर्लक्ष्य होता है ।

शारीरिक सौन्दर्य को नगण्य मानकर शुद्ध सौन्दर्य की संस्थापना में कवि वचन प्रमाण है—

कि लोअणेहि तरलेहि.....।^{१९}

अर्थात् चंचल नेत्र, चन्द्रसदृश उन्नत स्तन आदि एक भी कारण प्रमुख नहीं है जिनसे कि प्रेमी हृदय में प्रेमिका स्थान ग्रहण करती । वह तो कुछ और ही है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक भी कवि के महान् उद्देश्य को शत-प्रतिशत प्रमाणित कर रहा है, जिसमें कवि ने सज्जनों के कल्याणवर्धन व दुर्जनों के अभाव की कामना की है । ब्राह्मणों में विडम्बना रहित पूर्ण ब्राह्मणत्व की आशा की है ताकि उनका हर आशीर्वाद सत्य हो, अर्थात् ब्राह्मण सच्चे तपस्वी और मनीषी हों । इसी प्रकार लोभ से दूर रहना, धर्म में विश्वास करना आदि कथन इस बात की ही पुष्टि करते हैं कि कवि का स्तर व दृष्टिकोण दोनों ही उदार व विशाल है । जो केवल श्रृंगारिक नहीं, महान् उद्देश्य संयुक्त है ।^{२०}

इस प्रकार ग्रन्थ में ऐसे पदों का प्रयोग सर्वत्र बिखरा पड़ा है जो कवि के सात्विक विचारों व दृष्टिकोणों का परिचायक है । इसी क्रम में कुछ घटना प्रसंग भी ग्रन्थ की उदात्तता व चारित्रिक विशालता को प्रतिस्थापित करते हैं—

घटना प्रसंग

(१) 'कर्पूरमञ्जरी' ग्रन्थ के श्लोक संख्या दो में कवि ने कामदेव व रति की क्रियाओं को नमस्कार करने की प्रेरणा दी है,^{२१} जो कवि के महत् उद्देश्य को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर रही है । कामदेव अशरीरी है अतः उसकी रति के साथ आलिंगनादि शारीरिक क्रियाएँ कभी भी संभव नहीं होती । कवि का उद्देश्य भी यही है । नायक चन्द्रपाल व नायिका कर्पूरमञ्जरी का जो चित्रण किया गया है वह इसी उद्देश्य से कि पाठक उसे शारीरिक स्तर तक ही सीमित न मानें, बल्कि सृष्टि का हर जोड़ा काम व रति के समान शरीरादि क्रियाओं से रहित स्वच्छ, पवित्र और वासनारहित हो ।

(२) इसी प्रकार श्लोक संख्या तीन में कवि ने शिव और पार्वती के प्रेम को आदर्श रूप में संस्थापित किया है । यह भी इस बात का ही परिचायक है कि शिव का पार्वती के साथ समागम कितना उच्चस्तरीय समागम था तथा तप और साधना से संयुक्त समागम था ।^{२२} 'कुमारसम्भव' का प्रसंग है—

पार्वती ने रूप के आधार पर शिव को पाना चाहा पर वह असफल रही ।

आखिर पिता हिमालय की आज्ञा प्राप्त कर वह घने जंगल में घोर तप का आलम्बन लेती है, शरीर की सुरक्षा तक की भी उपेक्षा कर देती है, उस समय शिव स्वतः प्रकट होते हैं और प्रेम की परीक्षा के बाद उसे स्वीकार कर लेते हैं। अतः कवि द्वारा शिव-पार्वती के प्रेम को आदर्श बनाना ही इस बात का परिचायक है कि प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक संगठन पर मुग्ध न होकर चैतसिक मुग्धता को प्राप्त करे। जिसे प्राप्त करने के लिए संसार-विमुख योगी, संन्यासी भी आतुर रहते हैं।

(३) एक ओर घटना-प्रसंग इस चारित्रिक उज्वलता को परिपुष्ट करने वाला है, वह यह है कि कवि ने कार्तिकेय का न्यास करने वाले शिव—

छम्मुहणासाणं.....^{३४}

इस पद की प्रतिष्ठा की है। इसके द्वारा कवि ने ग्रन्थ का श्रेष्ठतम उद्देश्य घोषित कर दिया है।

कार्तिकेय भगवान् शंकर के पुत्र हैं पर उनके जन्म में किसी स्त्री का प्रत्यक्ष संसर्ग नहीं है। पौराणिक कथा है कि एक बार शिवजी ने अपना वीर्य अग्नि में फेंका पर उसे धारण करने में अपने आपको असमर्थ महसूस कर अग्नि ने उस वीर्य को गंगा में छोड़ दिया। गंगा में स्नानरत छः औरतों में वह वीर्य सक्नान्त हुआ। उन छहों ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया। उन छहों का एकीकरण करने पर कार्तिकेय पण्मुख कहलाए।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि ने 'कार्तिकेय का न्यास करने वाले शिव' जो विशेषण दिया है वह पाठकों व सामाजिकों में उस तपस्या व साधना जनित सामर्थ्य को जगाने की सटीक प्रेरणा है, जहां संभोग बहुत तुच्छ होकर रह जाता है। प्रेम शरीर की सीमा को छोड़कर आत्मा की भूमिका में पहुंच जाता है।

श्लोक संख्या चार में शिव की जय-जयकार की गई है। पर इसमें भी कवि का उद्देश्य रहस्यमय बना हुआ है। कवि ने कहा—'पार्वती को प्रसन्न करने वाले शिव।'^{३५} पार्वती और गंगा दोनों शिव की पत्नियां हैं पर यहां गंगा की उपेक्षा कर पार्वती को प्रमुखता देने का कारण भी यही है कि पार्वती ने जिस तप, साधना व चारित्रिक निष्ठा के द्वारा शरीरातीत, अतीन्द्रिय प्रेम को प्राप्त किया था, जिसकी तपस्या के आगे शिव को भी झुकना पड़ा था। उस प्रेम की प्रतिष्ठा करना अर्थात् जहां प्रेम का सही स्वरूप प्रकट होता है वहां शिव भी नतमस्तक होते हैं अतः हम यह जानें कि प्रेम का अर्थ अर्थात् सौन्दर्य का अर्थ असीम है और उसे असीम ही बना रहने दें।

इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अनेकों घटना-प्रसंग ऐसे हैं जो सच्चिदानन्द की प्रतिष्ठापना करते हैं। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य के कुछ ऐसे सिद्धान्त भी उपलब्ध हैं जिनका स्तर शारीरिक नहीं चैतसिक है, जहां वासना की गंध नहीं प्रेम का स्रोत है, श्रम की थकान नहीं आनन्द का प्रवाह है। मनोरंजन के लिए प्रस्थापित इस ग्रन्थ में कवि ने निश्चित रूप से दो अश्वों पर सवारी की है। सट्टक विधा के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ लोकानुरंजन तो करता ही है साथ ही साथ ऊर्ध्वलक्ष्य की ओर गति करने की रहस्यमय प्रेरणा भी प्रदान करता है। □

संदर्भ :

१. कर्पूरमंजरी १।१

२. " "

३. " "

४. " "

५. " २।३ पृ. ८६

६. वाङ्मयार्णव ४८५१, ४५९४, ५०५३, ५१२०

७. कर्पूरमञ्जरी २।३ पृ. ८६

८. " २।३

९. " २।४ पृ. ८७

१०. " २।४ पृ. ८८

११. " २।५ पृ. ८९

१२. " २।६ पृ. ९०

१३. " "

१४. " २।१ पृ. १५४

१५. द्वरे किञ्जउ चंपउस्स कलिआ कज्जं हलिदीअं कि,
उत्ततेण अ कञ्चणेण गणणा का णाम जच्चेण वि ।
लावण्णस्स णवुग्गाएंदुमहुरच्छाअस्स तिस्सा पुरे,
पच्चग्गेहि वि केसरस्स कुसुमक्केरेहि कि कारणं ॥

—कर्पूरमञ्जरी ३।१ पृ. १५७

१६. जाणे पंकरुहाणणा सिविणए मं केलिसेज्जागअं,
कंदीट्टेण तडत्ति ताडिउमणा हत्थंतरे संठिदा ।
ता कोड्ढेण मए वि भत्ति धरिआ ढिल्ले वरिल्लंचले,
तं मोत्तूण गदं च तीअ सहसा णट्टा खुणिदा वि मे ॥

—कर्पूरमञ्जरी ३।३ पृ. १६१

१७. वही ३।१० पृ. १७४

१८. " ३।१२ पृ. १७७

१९. " ३।१६ पृ. १८२

२०. सत्थो णंददु सज्जणाण सअलो वग्गो खलाणं पुणो,
णिच्चं खिज्जदु भोदु वंभणजणो सच्चात्तिहो सव्वदा ।
मेहो मुंचदुसच्चिदं पि सलिलं सस्सोच्चिअं भूअले,
लोहो लोहपम्मुहो णुदिअहं धम्मं मदि भोदु अ ॥

—कर्पूरमंजरी ४।२४

खण्ड २२, अंक २

१४३

२१. णिच्चं णमह् अणंगरईण मोहणाइं ।

—कपूर्मंजरी ११२

२२. गिरिस-गिरिदसुआणं संघाडी वो सुहं देउ ।

—कपूर्मंजरी ११३

२३. कपूर्मंजरी ११३

२४. ईसारोस-प्पसाअ-प्पणइसु ।

—कपूर्मंजरी ११४

—द्वारा/गोतम ज्ञानशाला
जैन विश्व भारती, लाडनूं

‘रत्नावली’ में अलंकार-सौन्दर्य

☞ लज्जा पंत

‘अलङ्करोति इति अलङ्कारः’ यह अलङ्कार शब्द की व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार शरीर को विभूषित करने वाले अर्थ अथवा तत्त्व का नाम अलङ्कार है। अलङ्कार दो शब्दों के मेल से बना है—अलम्+कार। जिस प्रकार कटक, कुण्डल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते हैं, इसलिए अलङ्कार कहलाते हैं उसी प्रकार काव्य में अनुप्रास, उपमा आदि काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हैं इसीलिए अलङ्कार कहलाते हैं। शोभावर्द्धक तत्त्व अलङ्कार कहलाता है।

आचार्य दण्डी काव्यशोभाकारक धर्म को अलङ्कार कहते हैं—

काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ।¹

आनन्दवर्द्धन ने शब्दार्थभूत काव्य साहित्य का आभूषण धर्म अलङ्कार माना है—

अङ्गाश्रितास्त्वलंकारः मंतव्या कटकादिवत् ।¹

मम्मट ने ‘काव्यप्रकाश’ के अष्टम उल्लास में अलङ्कारों का लक्षण बताते हुए कहा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

अर्थात् अलङ्कार ‘जातुचित्’ कभी-कभी ही उस रस को अलंकृत करते हैं, सदा नहीं। इसलिए ये काव्य के अस्थिर धर्म हैं।

विश्वनाथ कविराज के अनुसार अलङ्कार शब्दार्थ का अस्थिर या अनित्य धर्म है, जो काव्य की शोभा का उत्कर्षक होता है—

शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माश्शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥¹

पंडित जगन्नाथ की दृष्टि में काव्य की आत्मा उत्तम व्यंग्य का सुन्दर संवर्धक तत्त्व अलंकार है—

काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयता प्रयोजका अलङ्काराः ।²

उक्त विविध परिभाषाओं के आधार पर अलङ्कार सम्बन्धी निम्न तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—

१. यह काव्य का आन्तरिक अथवा अनिवार्य धर्म नहीं है, केवल बाह्य शोभा-दायक है।

२. यह अस्थिर धर्म है। इसकी अनुपस्थिति में भी कोई काव्यत्व की हानि नहीं होती है—

क्वचित्तु स्फुटालंकार विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।

(काव्यप्रकाश—सूत्र-१ की वृत्ति)

३. काव्य की शोभा या सौन्दर्य अलङ्कार पर आश्रित नहीं रहता है।

४. सत्काव्य में अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती है।

प्रायः सभी आचार्यों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है। अलंकार शरीर के शोभादायक होते हैं इसलिए काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाघायक तत्त्व का नाम ही अलङ्कार है। सुन्दर एवं भव्य विचार अलंकारों का सहयोग पाकर 'सोने में सुगन्ध' की तरह निखर उठते हैं।

ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का मानना है—

अलंकारांतराणि हि निरूप्यमाण दुर्घटान्यपि रस समाहित चेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहंपूविकया परांपतति।^१

अलंकार प्रयोग 'रसपरत्वेन' अर्थात् रस को ही प्रधान मानकर होते हैं। अलंकार अलङ्कार्य का केवल उत्कर्षाघायक तत्त्व होता है, स्वरूपाघायक या जीवनाघायक तत्त्व नहीं। काव्य में अलंकारों की प्रधानता होनी अनिवार्य नहीं है। आवश्यकतानुसार इनका ग्रहण तथा त्याग भी अपेक्षित है।

जैसे निसर्ग रमणीय युवती का शरीर आभूषणों का संयोग पाकर चमक उठता है, वैसे ही काव्य में अलंकार प्रयोग से काव्य की चारुता संवर्द्धित होती है। जयदेव ने अलंकार रहित काव्य की कल्पना, उष्णतारहित अग्नि की कल्पना के समान ही उपहासयोग्य कही है—

अङ्गीकरोति यः कायं शब्दार्थानलङ्कृती।

असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती ॥

कवि जीवन में जो कुछ अनुभव करता है, उसे वह प्रभावी ढंग से व्यक्त करना चाहता है। कोरे विचारों या वस्तु-तथ्यों में कोई आकर्षण नहीं होता। अतः कवि को अलङ्कारादि शैली-प्रसाधनों का सहारा लेना पड़ता है। यहां इस प्रश्न पर विचार करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि काव्य में अलङ्कार की अवतारणा स्वतः स्वाभाविक होती है, या ये प्रयत्नज प्रकट होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य अवश्य है कि भावावेश की स्थिति में वाणी में भी प्रवेग एवं शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वाणी के वेगवान होने पर प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की अभिव्यक्ति स्वतः ही अलङ्कृत हो जाती है। प्रतिभावान् कवियों को इनके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अभिनवगुप्त ने भी कहा है—

प्रतिभानुग्रहवशात् स्वयमेव संपत्ती।

भ वों की बाढ़ स्वतः अलंकार मणियां उगलने लगती है। कहा है—

As emotion increases, expression Swells and figures from forth.

(Some Concepts of Alankar V. Raghawan)

उपर्युक्त उक्ति श्रीहर्षदेव की रचनाओं के सन्दर्भ में पूर्णरूपेण सार्थक एवं उचित

प्रतीत होती है। महाकवि श्रीहर्ष की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक दिखता है। उनमें अभीष्ट अर्थ की अभिव्यञ्जना में अलंकार सहायक हुए हैं।

श्रीहर्षदेव के तीन ग्रन्थ हैं—

(१) प्रियदर्शिका

(२) रत्नावली और

(३) नागानन्द।

इनमें द्वितीय रत्नावली चार अङ्कों की एक नाटिका है। इस नाटिका में लगभग बाइस अलङ्कारों का प्रयोग मिलता है। उनमें कुछ अलङ्कारों का संक्षिप्त वर्णन यहां किया जा रहा है—

१. काव्यलिङ्ग

इसमें काव्य तथा लिङ्ग दो शब्द हैं, जिनका अर्थ है—काव्य का कारण अर्थात् ऐसा कारण जिसका वर्णन काव्य में किया जाय। अभिप्राय यह है कि कवि जिस कार्य को सिद्ध करना चाहता है उसका कारण वाक्यार्थ अथवा पदार्थ में दे देता है। साहित्य दर्पणाकार के अनुसार 'काव्यलिङ्ग' वह अलङ्कार है जिसे किसी अर्थ के उपपादन के लिए 'वाक्यार्थ' या 'पदार्थ' के हेतुरूप से उपनिबन्धन में देखा जाता है—

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ।^१

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने कहा है कि हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में कथन करना काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ।^२

'रत्नावली' नाटिका के प्रणेतृ काव्यलिङ्ग अलङ्कार के प्रयोग में कुशल हैं। उन्होंने नाटिका के प्रथम श्लोक (जो कि मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत है) में ही काव्यलिङ्ग अलङ्कार का साधु प्रयोग किया है—

पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां ।

शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदारोधने ॥

ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया ।

विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिगिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः ॥^३

अर्थात् शंकर की आराधना में पैरों के अगले भाग पर खड़ी हुई, स्तनों के भार से बार-बार झुकती हुई शंकर के अनुरागयुक्त तीनों नेत्रों के मार्ग पर जाती हुई (अर्थात् शिव द्वारा स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखी जाती हुई), रोमांच, पसीने तथा कम्पन से युक्त होती हुई और लज्जा करती हुई पार्वती के द्वारा (शंकर के) मस्तक पर (चढ़ाने के लिए) चाही गई, (किन्तु) फेंकी जाने पर (महादेव और पार्वती) के बीच में बिखरती हुई पुष्पाञ्जलि आप लोगों की रक्षा करें।

यहां अंजलि के बिखरने में 'स्तनभरेण' से लेकर 'ह्रीमत्या' तक के पद हेतु हैं, इसलिए इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते ।

करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ॥

न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि च ज्ञास्यसिमृषा ।

किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेधि प्रियतमे ॥^१

अर्थात् प्रसन्न हो—यह मैं कहूँ तो यह क्रोध के अभाव में ठीक नहीं बैठता । फिर ऐसा नहीं करूँगा—यह (कहूँ तो यह) दोष का स्वीकार हो जायगा । मेरा दोष नहीं है—यह (कहूँ तो इसे) भी तुम मिथ्या समझोगी । प्रियतमे ! इस प्रसंग में क्या कहना उचित है, यह मैं नहीं जानता ।

यहां वाक्यार्थ हेतुक होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

२. उत्प्रेक्षा

‘उत्प्रेक्षा’ शब्द उत् एवं प्र उपसर्ग पूर्वक ईक्ष् धातु से बना है—उत्कृष्ट पदार्थ की सम्भावना या बलपूर्वक देखना । इस अलंकार में उपमान या अप्रस्तुत को प्रकृष्ट रूप से देखने का वर्णन होता है । साहित्यदर्पणकार के अनुसार ‘उत्प्रेक्षा’ वह अलंकार है जिसे अप्रकृत के रूप में प्रकृत की सम्भावना कहा करते हैं ।

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।^२

मम्मटाचार्य ने प्रकृत (उपमेय) की अप्रकृत (उपमान) के साथ एकरूपता या तादात्म्य की सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहा है—

संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।^३

आचार्य दण्डी के मतानुसार अन्य प्रकार से स्थित चेतना या अचेतन पदार्थ की अन्य प्रकार की वस्तु के रूप में सम्भावना करना उत्प्रेक्षा अलंकार है । उन्होंने उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों में मन्ये, शंके, ध्रुवम्, प्रायः और इव आदि को कहा है—

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।

अन्यथोत्प्रेक्षयते यत्र तामुत्प्रेक्षा विदुर्यथा ॥

मन्ये शङ्के ध्रुवंप्रायो नूनमित्येव मादयः ।

उत्प्रेक्षा व्यञ्जयते शब्दैः इव शब्दोऽपि तादृशः ॥^४

‘रत्नावली’ नाटिका में ‘उत्प्रेक्षा’ अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है । कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

तस्त्रः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः ।

क्षीबाया नूपुरी च द्विगुणतरमिमौ ऋन्दतः पादलग्नी ॥

व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरौ हन्ति हारोऽयमस्याः ।

क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम् ॥^५

(मद्य सेवन से) मतवाली और कुर्चों के भार से झुकी हुई कमर के टूटने की परवाह किये बिना नाचती हुई इस (वनिता) का खुला हुआ तथा बिखरा हुआ जूड़ा मानो पीड़ा के कारण विशेष रूप से बनाई गई पुष्पमाला की शोभा को त्याग रहा है; पैरों से चिपकी हुई ये पायल (मानो पीड़ा के कारण) दुगुना चिल्ला रही है, लगातार कम्पन के कारण डोलता हुआ यह हार (मानो पीड़ा के कारण) निरन्तर छाती पीट रहा है ।

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।

उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥^{१४}

हे प्रिये ! यह अशोक वृक्ष तुम्हारे द्वारा कामदेव की पूजा में लगे हुए हाथ से स्पर्श किया जाने पर, निकले हुए अत्यन्त कोमल पल्लव से युक्त की तरह मालूम पड़ रहा है । अर्थात् ऐसा लगता है कि मानो इसमें एक दूसरा अतिकोमल पल्लव निकल आया हो ।

यहां महारानी के करपल्लवस्पर्श से अशोक में नवपल्लव उग आने की उत्प्रेक्षा की गई है ।

३. अर्थान्तरन्यास

अन्य अर्थ का न्यास अथवा रखना अर्थान्तरन्यास अलंकार कहलाता है । इसमें दो शब्द हैं—अर्थान्तर और न्यास । इसमें साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा, 'सामान्य' का विशेष से 'विशेष' का सामान्य से, 'कार्य' का कारण से और 'कारण' का कार्य से समर्थन कहा गया है । साहित्यदर्पणकार ने इसे इस प्रकार कहा है—

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।

कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥^{१५}

भामह के अनुसार पूर्व अर्थ से सम्बद्ध कथित अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के वर्णन में अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।

आचार्य मम्मट ने इसकी परिभाषा दी है—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥^{१६}

'रत्नावती' में इस अलंकार का विविध स्थलों में प्रयोग हुआ है—

दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या ।

कामिन्या यदमिहितं पुरः सखीनाम् ॥

तद्भूयः शिशुशुकसारिकाभिरुक्तं ।

धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥^{१७}

इस श्लोक में सामान्य से विशेष का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

द्वितीय उदाहरण—

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानादानुदिनं ।

व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ॥

प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ ।

प्रकृष्टस्य प्रेम्णः खलितमविषहं हि भवति ॥^{१८}

४. दृष्टान्त अलंकार

उदाहरण को ही दृष्टान्त कहा जाता है । इसमें दो वाक्य होते हैं—एक उपमेय वाक्य तथा दूसरा उपमान वाक्य और दोनों में साधारण धर्म भिन्न होते हैं । इसमें किसी तथ्य के प्रतिष्ठापन के लिए उसके सदृश अन्य बात कही जाती है । साहित्य-दर्पणकार के अनुसार 'दृष्टान्त' वह अलंकार है जिसे समान धर्म से युक्त उपमान

और उपमेय रूप वाक्यार्थों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव की झलक कहा करते हैं—

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् । (१०-५०)

मम्मट के अनुसार उपमेय वाक्य उपमान वाक्य एवं उनके साधारण धर्म में यदि बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो तो दृष्टान्त अलंकार होता है। यह साधर्म्य एवं वैधर्म्य दोनों प्रकार से होता है—

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् । (१०-१०२)

‘रत्नावली’ में दृष्टान्त अलंकार का सुन्दर विन्यास किया गया है—

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथादी बाधते यथासन्ने ।

तपति प्रावृषि नितरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥”

इस श्लोक का भाव यह है कि वर्षा होने से पूर्व की धूप जितना जलाती है उतना अन्य काल की धूप नहीं जलाती है, उसी तरह आसन्न प्रिया मिलन से पूर्व की काम पीड़ा जितना सताती है उतना अन्य काल की काम-पीड़ा नहीं, इसमें दृष्टान्त अलंकार है।

५. समासोक्ति अलंकार

समासोक्ति अलंकार वह कहलाता है जिसे ‘सम’ अर्थात् (प्रस्तुत और अप्रस्तुत में) समान रूप से समन्वित होने वाले कार्य, लिङ्ग और विशेषण के बल से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

समासोक्तिः समर्थत्र कार्यलिङ्गविशेषणः ।

व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥ (१०-५६)

आचार्य मम्मट के अनुसार प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से जो अप्रकृत अर्थ का कथन है वह समास से अर्थात् संक्षेप से प्रकृत तथा अप्रकृतरूप दोनों का कथन होने से समासोक्ति अलंकार कहलाता है—

‘परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । (१०-१४७)

समासोक्ति अलंकार के उदाहरण स्वरूप रत्नावली में निम्न श्लोक दृष्टव्य है—

आरुह्य शैलशिखरं त्वदनापहृतकान्ति सर्वस्वः ।

प्रतिकर्तुमिवोर्ध्वकारः स्थितः पुरस्तान्निशानाथः ॥ (III-१२)

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे लोक में देखा जाता है कि किसी का सर्वस्व अपहृत किये जाने पर वह उसका प्रतिकार करने के लिए कुछ ऊँचे स्थान पर जाकर और बाँहें ऊपर करके सर्वस्व अपहर्ता को ललकारते हुए मानो खड़ा होता है उसी तरह चन्द्रमा तुम्हारे मुख के द्वारा अपहृत कान्ति होने पर उदयाचल पर चढ़कर किरणों को ऊपर करके स्थित हुआ है। यहां समासोक्ति अलंकार है।

६. स्वभावोक्ति अलंकार

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ‘स्वभावोक्ति’ वह अलंकार है जिसे उरुह अर्थात् सूक्ष्म अथवा कल्पनाशील कविजन द्वारा संवेश, पदार्थों के स्वरूप, उनकी किमार्थों का

वर्णन कहा करते हैं—

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् । (१०-९२)

काव्यप्रकाशकार के अनुसार बालक आदि की अपनी स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप, वर्ण एवं अवयवसंस्थान का वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार कहलाता है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् । (१०-४९२)

इसमें स्वाभाविक क्रिया का वर्णन किया जाता है। 'रत्नावली' में स्वभावोक्ति अलङ्कार का प्रयोग श्रीहर्ष द्वारा बहुतायत से किया गया है। यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वेरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्यिया ।

तैस्तेर्बन्धुवधूजनस्य वचनेर्नीताभिमुख्यं पुनः ॥

दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे ।

संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायातु वः ॥”

इस श्लोक में नवोढा की क्रिया का यथावत् वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

अन्य भी—

पुरः पूर्वमिव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं ।

क्रमात्क्रामघ्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति ॥

उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं ।

तमः संघातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः ॥ (III-७)

अर्थात् शंकर के गले की कान्ति का अनुकरण करने वाला यह अन्धकार पुञ्ज पहले पूर्व दिशा को ही ढकता है, पश्चात् अन्य दिशाओं को भी। फिर क्रमशः फैलता हुआ पर्वतों, वृक्षों तथा ग्रामों के विभिन्न भागों को छिपा देता है। तदनन्तर गाढ़ता को प्राप्त होकर संसार के नेत्रफल का अपहरण कर लेता है।

यहां अन्धकार के फलस्वरूप होने वाली दशा का स्वभाविक वर्णन होने के कारण 'स्वभावोक्ति' अलंकार है।

७. उपमा अलङ्कार

यह सादृश्यमूलक अलंकार है। उपमा अलङ्कार में दो पदार्थों को समीप रखकर एक-दूसरे के साथ साधर्म्य स्थापित किया जाता है। काव्यप्रकाशकार ने उपमा की वैज्ञानिक परिभाषा दी है। इनके अनुसार उपमेयोपमान में भेद होने पर भी उनके साधर्म्य को उपमा कहते हैं—

साधर्म्यमुपमाभेदे ।

उपमानोपमेययोरेव नतु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन घर्मेण संबन्ध उपमा । भेद ग्रहणम् अनन्वयव्यच्छेदाय ॥”

दण्डी दो पदार्थों के साम्य-प्रतिपादन को उपमा मानते हैं।

साहित्यदर्पणकार ने उपमा की परिभाषा दी है—

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः । (१०-१४)

अर्थात् उपमा दो पदार्थों का वह वैधर्म्यवाच्य साम्य है जो कि एक वाक्य-प्रतिपाद्य हुआ करता है।

खंड २२, बंक २

१५१

उपमा के चार तत्त्व होते हैं—उपमेय, उपमान, साधर्म्य वाचक और साधारण धर्म, उपमा को सभी अलङ्कारों में श्रेष्ठ समझा जाता है। प्राचीनता, व्यापकता, रमणीयता एवं सौन्दर्य-प्रियता की दृष्टि से उपमा का अत्यधिक महत्त्व है।

श्रीहर्ष उपमा के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। इनकी उपमायें सहज एवं स्वाभाविक हैं। लोक, शास्त्र, प्रकृति जगत् से सम्बद्ध उपमाओं का सुन्दर प्रयोग 'रत्नावली' में हुआ है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु ।

भवतु च पृथिवी समृद्धशस्या, प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः ॥ (I-५)

अर्थ—चन्द्रमा (लक्षणा से चन्द्रवंशी राजा श्रीहर्ष) की विजय हुई। (अतः) देवताओं को नमस्कार है। द्विजवर बाघाओं से रहित हों। पृथ्वी शस्य सम्पन्न हो। राजश्रेष्ठ (श्रीहर्ष) चन्द्रमा के समान आह्लादक शरीर धारण कर प्रताप प्रकट करें।

उक्त श्लोक में उपमा अलंकार की छटा दर्शनीय है।

द्वितीय उदाहरण—

प्रत्यग्रमज्जन विशेष विविक्तकान्तिः ।

कौसुभरागरुचिरस्फुरदशुकान्ता ॥

विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती ।

बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव ॥ (I-२१)

कामदेव की पूजा करती हुई, सद्यः स्नान करने के कारण अत्यन्त निर्मल कान्ति वाली और कुसुभी रंग के कारण सुन्दर चमकते हुए अंचले वाली तुम नव पल्लव वाले वृक्ष पर उत्पन्न लता के समान शोभित हो रही हो।

इसके अतिरिक्त अन्य भी कई स्थलों पर उपमा अलंकार का प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है।

ऊपर विवेचित अलंकारों के अतिरिक्त श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, उदात्त, अति-शयोक्ति, स्मरण, विभावना, उन्मीलित, प्रतीप, असंगति, पर्यायोक्ति, अनुगुण आदि अलंकारों का प्रयोग भी 'रत्नावली' नाटिका में कुशलतापूर्वक किया गया है।



संदर्भ स्रोत :

१. काव्यादर्श	—	२—१
२. ध्वन्यालोक	—	२—६
३. साहित्यदर्पण	—	१०—१
४. रसगंगाधर		
५. ध्वन्यालोक	—	२—१६ की वृत्ति
६. अलंकार सर्वस्व	—	पृ १८१
७. काव्यप्रकाश	—	१०—११४
८. रत्नावली	—	१—१
९. रत्नावली	—	२—२०
१०. साहित्यदर्पण		
११. काव्यप्रकाश	—	१०—९२
१२. काव्यादर्श	—	२—२—२१, २—८—३३
१३. रत्नावली	—	१—१७
१४. रत्नावली	—	१—२२
१५. साहित्यदर्पण	—	१०
१६. काव्यप्रकाश	—	१०—१०९
१७. रत्नावली	—	२—८
१८. रत्नावली	—	३—१५
१९. रत्नावली	—	३—१०
२०. रत्नावली	—	१—२
२१. काव्यप्रकाश	—	१०—८७

—(डा० लज्जा पंत)
हनुमानगढ़, नैनीताल-२
(उ० प्र०)

“आषाढ़ का एक दिन” का कालिदास

■ जयश्री रावल

“निराला के बाद हिन्दी साहित्य में जिस आदमी के चारों ओर सबसे ज्यादा ‘मिथ’ बुनी गई, वह था मोहन राकेश। कुछ उनका व्यक्तित्व ही ऐसा था और कुछ उनके हमदम, दोस्त, प्रशंसक और आलोचक भी ऐसे रहे हैं कि उन्होंने उन्हें या तो निहायत घटिया आदमी के रूप में पेश किया या फिर मसीहा बनाकर रख दिया।” संस्कृत के कालिदास भी कई ‘मिथ’ से जुड़े। एकदम मूर्ख (वृक्ष की जिस शाखा पर बैठे, उसीको काटने वाले) से लेकर कवि-कुलगुरु तक। मोहन राकेश को कवि कालिदास में अपने जीवन की छाया देख कर ही ‘आषाढ़ का एक दिन’ के सृजन की प्रेरणा मिली होगी। ‘आषाढ़ का एक दिन’ के कालिदास से मोहन राकेश कहीं न कहीं अवश्य जुड़ते हैं। कवि कालिदास की तरह मोहन राकेश भी असफल प्रेमी हैं। पर, हर “महान व्यक्ति के जीवन में स्त्री को महती भूमिका होती है, हर आदमी के अचेतन मन में नारी का एक रूप होता है। इस दृष्टि से “आषाढ़ का एक दिन” के कालिदास के जीवन में मल्लिका का स्थान केन्द्र में है। मल्लिका कालिदास की प्रेरणा है, उसकी आत्मा है, उसकी चेतना है। यदि उसके जीवन में मल्लिका नहीं आती तो शायद ‘मेघदूत’ जैसे काव्य की रचना ही नहीं हुई होती। भावनाओं में जीने वाली मल्लिका कालिदास के प्रति अपने प्रेम सम्बन्ध को सारे सम्बन्धों में श्रेष्ठ मानती है। अतः राजकवि की पदवी मिलने वाली होती है, तब उसे उज्जयिनी जाने, को प्रेरित करती है ! उसे अपने साथ बांधे रखने के बजाय वह उसके लिए विस्तृत क्षितिज के द्वार खोल देती है। वह अभाव में जीती है, पर ‘आस्थाभाव’ वैसा ही रहता है। वह कहती है “परन्तु मैंने वह सब सह लिया। इसलिए कि मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बन रहे हो। क्योंकि मैं अपने को अपने में न देखकर तुम में देखती थी।”¹³ वहीं कालिदास बेहद आत्मकेन्द्री एवं स्वार्थी हैं, उज्जयिनी जाने के बाद कितने ही सालों तक मल्लिका से मिलने भी नहीं आता, और न ही उसे कोई संदेश भेजता। फिर भी मल्लिका की भावनाओं का विशाल आयाम है कि कालिदास के लिए अपने हाथों से भूर्जपत्रों का निर्माण करती है और सोचती है—जब वो राजधानी से वापस आएंगे तब इन भूर्जपत्रों की भेंट देकर कहूंगी—इन पत्रों पर आप अपने महान महाकाव्य की रचना करना।

जब कालिदास ने उज्जयिनी जाकर वहां की राजकुमारी से शादी कर ली। फिर

भी मल्लिका स्वयं शादी किए बिना, सिर्फ उसकी राह देखती है। यह एक हकीकत है कि जब व्यक्ति का जीवन सामान्य से असामान्य हो जाता है, तब वह असामान्य व्यक्ति या वस्तु की अपेक्षा रखता है; और वहीं मल्लिका बहुत पीछे छूट जाती है। काश्मीर जाते समय कालिदास गांव में आते हैं, पर मल्लिका को मिलते तक नहीं। यहां प्रश्न होता है कि क्या कालिदास के पास समय नहीं था? संदेश भेजने के लिए कोई मेवक भी नहीं था? कागज-कलम का अभाव था? इनका अभाव रहा हो या नहीं, कहीं न कहीं प्रेम ही शिथिल पड़ गया था।

कालिदास कहता है—‘मेघदूत’ में यक्ष की जो पीड़ा है वह मेरी है और यक्षिणी तुम ही हो। यहां भी एक सवाल होता है—कालिदास मल्लिका की मनः स्थिति को जानता है। उसकी वेदना, पीड़ा को समझता है, फिर भी बिना मिले क्यों चला जाता है? लगता है कालिदास ही बदल गया है। क्यों? यज्ञ-प्रतिष्ठा पाने के लिए कालिदास ने ‘मेघदूत’ जैसे अपूर्व काव्य की रचना तो की, पर प्रेम में पागल होकर अपने अस्तित्व को ही भूला देने वाली, मल्लिका को भी भुला दिया। कवि को अब तक की प्रतिष्ठा में जिसकी महत् प्रेरणा एवं त्याग मिला हुआ है। यदि कालिदास के पास इस समय मल्लिका के लिए दो क्षण या दो शब्द भी रहे होते तो आखिर में उसे मल्लिका के द्वार से निराश होकर नहीं लौटना पड़ता। मल्लिका स्वाभिमानी है। कालिदास द्वारा प्राप्त हुए इस अपमान का बदला लेने के लिए ही उसने विलोम से व्याह रचा लिया होगा।

मल्लिका किसी के रहमोकरम पर जीने वाली औरत नहीं है। उसके घर की हालत देखकर प्रियगुमंजरी कहती है—“देख रही हूं तुम्हारा घर बहुत जर्जर स्थिति में है। इसका परि-संस्कार आवश्यक है। चाहो, तो मैं इस कार्य के लिए आदेश दे जाऊंगी।” मल्लिका जवाब में कहती है—“आप बहुत उदार हैं। परन्तु हमें ऐसे ही घर में रहने का अभ्यास है, इसलिए असुविधा नहीं होती।”

कालिदास का प्रेम एक विरोधाभास है। वह मल्लिका को स्मृति में याद रखता है, पर वास्तविक जीवन में भूल जाता है। वह उसे अस्तित्व से वंचित कर देता है, पर अपने अतीत से वंचित नहीं करता। ‘कुमारसंभव’ या ‘मेघदूत’ लिखते समय वह जिसे उमा या यक्षिणी के रूप में याद रखता है; वह प्रेम नहीं है; एक पूर्व स्थापित स्मृति का व्याख्यान, एक संचित अनुभव की अभिव्यक्ति मात्र है। वह जीवित-वर्तमान मल्लिका को याद नहीं करता, याद करता है अतीत की एक मल्लिका को जो समय से बंधी हुई है। इसीलिए वह उसकी स्थितियों में हुए परिवर्तनों को नहीं देख पाया। तभी तो तीसरे अंक में उससे मिलने पर सब कुछ बदला हुआ लगता है। उसे अपनी भावनाओं की मल्लिका और वास्तविक मल्लिका में कोई समानता नहीं लगती। मल्लिका का दो भागों में विभाजन हो जाता है। वह स्वयं कहती है—“मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो ॥” विलोम से विवाह करके शरीर से उसकी हो गई, पर मन से सदा कालिदास के नजदीक रही; इसीलिए मल्लिका की लड़की दीखने में कालिदास जैसी है। मल्लिका दो तरह का

जीवन जीती है—एक भाग पर कालिदास का अधिकार है और दूसरे पर विलोम का। कालिदास और विलोम के बीच का जीवन, प्रेयसी और पत्नी के बीच का जीवन; उसके पूरे अस्तित्व पर न तो कालिदास का अधिकार; न ही विलोम का। वह कालिदास की ही होकर रही होती; पर न होने का कारण भी स्वयं कालिदास ही है। दो पुरुषों के बीच मल्लिका जिस संबन्ध से जीती है उसमें प्रेम और नफरत, आत्मदान और आत्म-आग्रह, समर्पण एवं विद्रोह का अद्भुत समन्वय हुआ है।

मल्लिका में एक आर्यनारी का आदर्श भी है। तीसरे अंक में कालिदास और मल्लिका अपने पूर्वजीवन को याद कर रहे हैं। कालिदास अपने प्रेम का इकरार करके फिर अथ से आरंभ करने की बात करता है। ठीक, इसी समय अन्दर से बच्ची के रोने की आवाज आती है। कालिदास पूछता है—“किसके रोने का शब्द है यह ?” मल्लिका जवाब में कहती है—“यह मेरा वर्तमान है।” अभी तक हमने जो बातें कीं, वह तो मेरा भूतकाल था। कालिदास मल्लिका के घर से निराश होकर चला जाता है। मल्लिका उसे पुकारती है और उसके पीछे जाने के लिए चोखट को लांघने की कोशिश भी करती है, लेकिन उसकी तजर अपने हाथों में रहे वर्तमान पर पड़ती है और वह वहीं की वहीं ठहरकर टूट-बिखर जाती है; हार जाती है और जिन्दा लाश होकर घर में लौट जाती है। क्योंकि उसकी आत्मा तो कालिदास के पीछे जा चुकी होती है। काश्मीर जाते समय कालिदास के पास मल्लिका के लिए दो क्षण, दो शब्द रहे होते तो मल्लिका के वर्तमान में बहुत अन्तर होता; और शायद कालिदास को यूँ निराश होकर न लौटना पड़ता।

प्रेम एक साधना है। समर्पण एवं त्याग की भावना को सच्चा प्रेम कहा गया है। मल्लिका प्रेम-प्रतिभा है, जीवन्त ! पर कालिदास की ‘चूक’ (दुष्यन्त, यक्ष, पुरुरवा में देख सकते हैं) मल्लिका को ले डूबती है। बल्कि यूँ कहेँ मल्लिका न तो डूब पाती है और ही तैर पाती है। कुमारसंभव, की रचना के समय पार्वती के रूप में कालिदास के समक्ष मल्लिका ही होती है। पार्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर शंकर पार्वती को स्वीकार करते हैं, पर पार्वती की ही तरह साधना करती मल्लिका को शंकर के रूप में कालिदास क्यों नहीं मिलते ?

कहते हैं वियोग के बाद का मिलन चिरकाल के लिए का होता है। ‘मेघदूत’ में यक्षिणी और यक्ष का मिलन हुआ, पर यक्षिणी—जैसी विरह-वेदना में तड़पती मल्लिका का कालिदास से मिलन तो होता है, पर क्षणिक ! मल्लिका फिर उसी वेदना में क्यों ? !!

प्रेम में हुई छोटी सी भूल घातक परिणाम लाती है। काश्मीर जाते समय कालिदास से हुई भूल से ही भावनाओं के तंतु से बंधी हुई मल्लिका टूट जाती है। और शायद अपने अस्तित्व को टिकाए रखने के लिए ही विलोम का हाथ पकड़ती है।

“आषाढ़ का एक दिन” नाटक के कालिदास संस्कृत के कालिदास ही हैं या

नाटककार स्वयं मोहन राकेश ? मूल में है तो संस्कृत-कालिदास ही; पर कालिदास के जीवन में मोहन राकेश ने खुद को तलाशने का जो प्रयत्न किया है, उसमें वह सफल ही हुए हैं। कालिदास के समग्र साहित्य-अध्ययन के आधार पर उसके जीवन की शोध शुरू करें तो वह “आषाढ़ का एक दिन” के कालिदास के रूप में ही प्राप्त होगी। [५]

संदर्भ :

१. आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश, गोविन्द चातक, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : १९७५, पृ० २६
२. आषाढ़ का एक दिन, मोहन राकेश; राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली; १९९२, पृ० ९४
३. वही, पृ० ७१
४. वही, पृ० ९३
५. वही, पृ० १०५

—(जयश्री रावल)

D/o श्री किरीट कुमार
भावसारवाड़, कठलाल
जिला-खेड़ा (गुजरात)
पिन कोड-३८७६३०

साहित्य-सत्कार एवं पुस्तक-समीक्षा

१. अमृतम् (खण्डकाव्य) — मुनि सुखलाल, प्रकाशक—अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद्, लाडनं, प्रथम संस्करण—१९९६, मूल्य—२५/- रु० ।

प्रस्तुत कृति में भगवान् महावीर के उदात्त जीवन की एक भांकी है जो जीवन के शाश्वत मूल्यों की ओर प्रवृत्त करने में सक्षम है। धन्यो वीरः श्रम समशर्मयें नष्टः कषायः—काव्य की यह पंक्ति इसी ओर इंगित करती है।

इस कृति में चण्डकौशिक जैसे विकराल सर्प के दंश से पूर्व श्री महावीर की मनः-स्थिति एवं उनकी पश्चात्पूर्ति प्रतिक्रिया को बड़े प्रभावक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। सर्प का कृतज्ञता-ज्ञापन कि मैं तिर्यञ्च हूँ इसलिए श्रमण नहीं बन सकता किन्तु आपके साक्ष्य से श्रावकत्व स्वीकार करता हूँ—भी प्रभावक बन पड़ा है। खण्ड काव्य के अनेकों श्लोक सुन्दर हैं परन्तु उसका दूसरा श्लोक महावीर स्वामी के व्यक्तित्व का सजीव चित्र उपस्थित करता है। उसके हिन्दी अनुवाद में 'कम्बु' को शंख लिखा जाना चाहिए। काव्य के अन्त में शब्द सूची देकर कवि ने अपने मंतव्य को स्पष्ट कर दिया है।

अन्त में पं० विश्वनाथ मिश्र के शब्दों में 'इस शत-श्लोक मय काव्य को पढ़कर यह निविवाद रूप से कहा जा सकता है कि इसमें अमृत भरा हुआ है।'

—सीताराम दाधीच

२. पाइयपडिबिबो—मुनि विमलकुमार; प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू; प्रथम संस्करण—१९९६, मूल्य—२०/- ।

कवि ने स्वकथ्य में कहा है कि गुरुदेव तुलसी के आदेश पर उन्होंने प्राकृत भाषा पढ़ी और मुनि श्री ताराचन्दजी की प्रेरणा से उन्होंने जैन कथानकों को काव्यबद्ध करना शुरू किया और ललियंगचरियं, बकचूलचरियं, देवदत्ता, सुबाहुचरियं, पएसी-चरियं, मियापुत्तचरियं आदि प्राकृत भाषा काव्यों की रचना हो गई।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के भाषाशास्त्री प्रो० सत्यरंजन बनर्जी का मानना है कि "बीसवीं शताब्दी में प्राकृत भाषा में ऐसा एक महत्त्वपूर्ण आख्यान काव्य लिखना बहुत ही कठिन है।" उन्होंने इस काव्यकृति में कलाकौशल, वर्णन-माधुर्य, शब्द चयन और वचन—सभी सुन्दर और पाण्डित्यपूर्ण कहे हैं। उन्हें यह कृति पुराने काव्य ग्रंथों से भी अधिक मधुर लगी।

आचार्य महाप्रज्ञ ने भी पाइयपडिबिबो में भाषा का प्रयोग सहज, सरल और

वार्ता-प्रसंग हृदयग्राही पाया है किन्तु काव्य सौंदर्य के लिये अपेक्षित व्यंजना की कमी बताई है। फिर भी पाठक के मन को आकृष्ट करने वाली सामग्री इसमें अवश्य है। स्मरणीय है कि इस प्राकृत प्रतिबिम्ब के प्रथम ललितांग चरित का वाराणसी से प्रकाशित संस्कृत साप्ताहिक—गांडीव में धारावाहिक प्रकाशन हुआ था।

वस्तुतः मुनि विमलकुमार के सटिप्पण पाइय संग्रहों के बाद पाइय पच्चूसी और पाइय पडिबिंबो—ये दो प्रकाशन हुए हैं। पाइय संग्रहों में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, प्रश्नव्याकरण, स्थानांग, भगवती, दशाश्रुतस्कंध, ज्ञाता धर्मकथा, अन्तकृत् दशा और राजप्रश्नीय आदि से २७ प्राकृत-पाठ तैयार किए गए थे जो सन् १९८३ में प्रकाशित हुआ। उसके ठीक तेरह वर्ष बाद पाइय पच्चूसी और पाइय पडिबिंबो का प्रकाशन हुआ है। इसलिए मुनि विमलकुमार की प्राकृत भाषा यात्रा अभी और परवान चढ़ेगी—इसमें कोई शक-शुबा नहीं है।

ग्रन्थ का प्रकाशन, साजसज्जा, गेटअप आदि सुन्दर है और मूल्य अत्यल्प होने से यह सर्व सुलभ हो गया है।

—परमेश्वर सोलंकी

३. नवनीत (जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी) प्रकाशक—ऋषि प्रकाशन, भांसी; प्राप्तिस्थान—ऋषियोगा, विपिन जैन, ९७/५ए सिविल लाइन्स, भांसी। मूल्य—१५/- रु०।

पिछले वर्ष दिनांक २९, ३० सितम्बर और १ अक्टूबर, १९९५ तथा विगत वर्ष दिनांक २६, २७, २८ अगस्त, १९९४ को क्रमशः भांसी और गुना में दो विचार संगोष्ठियों का आयोजन हुआ। दोनों संगोष्ठियों का संचालन सतना निवासी नीरज जैन ने किया और उनके सहयोगी रहे भांसी के डॉ० जिनेन्द्र जैन तथा ग्वालियर के डॉ० अभयप्रकाश। दोनों गोष्ठियों में क्रमशः उपस्थित २१ और १८ विद्वानों को मुनिश्री क्षमासागर एवं ऐलकद्वय श्री उदयसागर एवं श्री सम्यक्त्व सागर का सान्निध्य मिला।

संगोष्ठियों में प्रस्तुत किए गए सभी विचार पत्रों को यहां नवनीत—शीर्षक देकर प्रकाशित कर दिया गया है और भांसी के दैनिक विश्व परिवार और पुना के डॉ० महावीर जैन द्वारा लिखा संगोष्ठियों का विवरण भी दे दिया है। गोष्ठी-सत्रों में पठित आलेखों में अनेक आलेख विचारोत्तेजक शोध सामग्री से भूरे पूरे हैं। श्री नीरज जैन का कर्मन की गति न्यारी, पद्मश्री यशपाल जैन का नागरिक के कर्तव्य, डॉ० राधारमणदास का मानव विज्ञान कर्म त्रिभुज, डॉ० अशोक जैन का जैन धर्म और वनस्पति विज्ञान, डॉ० अनिलकुमार जैन का भाग्य और पुरुषार्थ, डॉ० आराधना जैन का अपघटन और तप और देवेन्द्रकुमार जैन का इवोल्यूशन थैरी ऑफ जैनिज्म आदि कुछ आलेख निश्चय ही नयी सोच और ऊहापोह को प्रचोदित करते हैं।

दरअसल ऐसी संगोष्ठियों में एक ही विषय रखकर उस पर आलेख पढ़ने के बाद

अधिकारी विद्वानों द्वारा चिन्तन-मनन किया जाना चाहिए। इस संगोष्ठी में भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण के निदेशक डॉ० सुधांशु कुमार जैन ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में किसी पश्चिमी लेखक को उद्धृत करते हुए कहा कि वनस्पति की एक जाति का नष्ट होना नरसंहार से कम नहीं है। यद्यपि पश्चिमी नजरिये से देखना गलत है किन्तु इस उक्ति में जो आंशिक सत्य है उसे उजागर करने की चेष्टा नहीं हुई। भांसी संगोष्ठी में ही जैन धर्म और वनस्पति विज्ञान—शीर्षक लेख भी पढ़ा गया और डॉ० सुधांशु का नोट कि दुर्लभ वनस्पति संरक्षण होना चाहिए किन्तु क्या इसी एक विषय पर विचार संगोष्ठी का आयोजन कर उसमें से नवनीत निकालना ठीक नहीं होगा? सोचने का प्रश्न है ?

—परमेश्वर सोलंकी

४. जैन दर्शन : वैज्ञानिक दृष्टियो (गुजराती-हिन्दी-अंग्रेजी लेख संग्रह)—मुनिश्री नन्दीघोषविजयजी; प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, मुम्बई-४०००३६; मूल्य—१००/- रु०।

श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई-३६ बहुत पुरानी प्रकाशन संस्था है। इस संस्था से जैन आगम ग्रन्थमाला के अलावा गुजराती में श्री मोतीचंद कापड़िया ग्रन्थमाला का प्रकाशन हुआ है और डॉ० वी. एम. कुलकर्णी, डॉ० मोतीचंद्र एवं डॉ० यू. पी. शाह के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। श्री वीरचंद राघवजी गांधी की पुस्तक—'दी सिस्टमस् ऑफ इण्डियन फिलोसोफी' भी यहीं से प्रकाशित हुई है। संप्रति संस्था के पदाधिकारियों ने गुजराती जर्नल 'नवनीत समर्पण' में प्रकाशित मुनिश्री नन्दीघोष-विजयजी के कतिपय लेखों का संग्रह गुजराती-हिन्दी-अंग्रेजी में 'जैनजम थू साईस' प्रकाशित किया है।

मुनिश्री नन्दीघोषविजय, आचार्यश्री विजयसूर्योदयसूरिजी के शिष्य हैं। उनका दीक्षा पूर्व का नाम निर्मलकुमार नगीनदास शाह है और वे विज्ञान के विद्यार्थी रहे हैं। प्रस्तुत लेख संग्रह, यद्यपि प्राथमिक है किन्तु उसमें पाठक को आकर्षित करने तथा जैन सिद्धान्तों को आधुनिक (वैज्ञानिक) परिप्रेक्ष्य में देखने का उत्साह होता है। यह बहुत प्रशंसनीय है क्योंकि जैन सिद्धान्तों में अन्तर्निहित विज्ञान को उजागर करने से अन्यत्र बहुत ही सुखद और आश्चर्यजनक परिणाम मिले हैं।

पुस्तक का प्रकाशन, गेट-अप और साज-सज्जा अच्छी है। मूल्य भी अधिक नहीं है इसलिए जिज्ञासु और प्रबुद्ध दोनों प्रकार के पाठक इस ओर आकर्षित होंगे।

५. ग्लोसरी ऑफ जैन टर्मस् (Glossary of Jaina Terms)—डॉ० नंदलाल जैन (रीवा), प्रकाशक—जैन इंटरनेशनल, २१, सौम्य, अहमदाबाद-३८००१४, प्रथम संस्करण—१९९५, मूल्य—४०/- रुपये।

'जैन इंटरनेशनल' ने सन् १९९३ में श्री वीरचंद राघवजी गांधी की अमर कृति के रूप में 'धर्म और जैन दर्शन' का प्रकाशन किया था जो द्वितीय विश्व धर्म संसद्

के अवसर पर प्रथम विश्व धर्म संसद् (सन् १८९३) का यादगार उपक्रम बना। इसी संस्थान ने अब ग्लोसरी ऑफ जैन टर्मस्—जैन पारिभाषिक शब्दों की सूची प्रकाशित कर अनुकरणीय कार्य किया है।

यद्यपि इस क्षेत्र में लगभग डेढ़ दशक पूर्व ही 'तुलसी प्रज्ञा' ने प्राथमिक कार्य किया था और जैन टेक्निकल टर्मस्—की एक सीरिज प्रकाशित की थी; किन्तु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही विशाल और दीर्घकालिक भी है। बहुत से लेखकों ने भी अपनी-अपनी पुस्तकों में प्रयुक्त जैन टर्मिनोलोजी के शब्दों की सूची प्रकाशित की हैं जिनमें २०० से २००० तक पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय दिए गए हैं किन्तु उनमें एकरूपता और आवश्यक स्तर का प्रायः अभाव दीख पड़ता है।

प्रस्तुत संग्रह में तीन हजार से अधिक पारिभाषिक शब्द सूचीबद्ध हुए हैं। यह संख्या बहुत छोटी है क्योंकि जैन पारिभाषिक शब्दों की संख्या हजारों में है; किन्तु संख्या से पूर्व पारिभाषिक शब्दों के लिए उपयुक्त अंग्रेजी पर्याय तय करने तथा उनमें एकरूपता और स्तरीकरण बनाने की आवश्यकता है। डॉ० नंदलाल ने जैन विद्वान् डॉ० एम. ए. ढाकी, डॉ० सागरमल जैन, प्रो० मधुसेन, डॉ० जीतूभाई शाह, डॉ० ए. के. जैन आदि कतिपय लेखकों से सहयोग लिया है। पद्मभूषण पं० दलसुख भाई मालवणिया का आशीर्वाद भी उन्हें मिला है। इसलिये उनके द्वारा सुझाये पर्याय सर्व-मान्य हो जाएं तो यह काम आगे बढ़ सकता है।

जैसा कि आदरणीय मालवणियाजी ने अपने आशीर्वाद में कहा है, जैन विद्वानों को इस ग्लोसरी को अपनाना चाहिए और इसके परिष्कार और बढ़ोतरी के लिए अपने सुझाव देने चाहिए।

सुन्दर और यथासंभव निर्दोष प्रकाशन के लिए जैन इन्टरनेशनल धन्यवाद का पात्र है और डॉ० नंदलाल की इस दुरूह कार्य के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की जानी चाहिए कि एक रसायनशास्त्री ने जैन टर्मस् को नया स्वरूप प्रदान करने का दुष्कर कार्य कर दिया है।

६. हासियो तोड़ता सबद—रवि पुरोहित, प्रकाशक—राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति, श्रीङ्गारगढ़-३३१८०३, प्रथम संस्करण-१९९६, मूल्य—८०/- रु०।

श्री रविशंकर राजपुरोहित का पहला कविता-संग्रह 'चमगूंगो' सन् १९९१ में छपा था। पांच वर्ष बाद वह पुनः साहित्यजगत् के सामने 'हासियो तोड़ता सबद' लेकर उपस्थित हुआ है। चमगूंगो की कविताओं के संबंध में हमने लिखा था कि 'ये कविताएं प्रथम प्रयास होते हुए भी 'चमगूंगो की बिरादरी' में नहीं लगती।' आज वह साहित्य-शादल में प्रवेश को, उसके हासिये के पत्थरों को तोड़ने के इरादे से उपस्थित हुआ है और कहता है—

कौन कहता है आसर्मा में छेद नहीं हो सकता,

पत्थर तो जरा तबियत से उछालकर देखो, यारो !

संग्रह की कविताओं में 'तिरसा', 'मूँछ', 'रूँख', 'कविता', 'नारी', 'बोझ', 'बालक', 'ईलाज' और सम्बन्ध—शीर्षक कविताओं में गहराई है, युग बोध है, जीवन

की सहज अनुभूति है और बदलाव की तड़प भी दीख पड़ती है। 'कीमत'—शीर्षक में प्रश्न को उभारा गया है। 'पछतावो'—शीर्षक में बात बनी नहीं लगती किन्तु नारी कल्याण में कवि उक्ति बहुत सामयिक बन पड़ी है।

राजस्थानी भाषा के मोहवश जो हमारे विचार में ठीक नहीं है, कवि ने शब्दों के स्वरूप को बिगाड़कर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। जैसे धीरज को धीरोज, हंस्यो को हंसग्यो, सपलोटिया को सांपला, भूण को भूंड, छेकड़ को छेवट, इतिहास को इतियास, टेचरी को टूंचरी, इत्यादि। यह दृष्टि बदली जानी चाहिए। जब 'फोट', 'मिनिज बुक', 'कानूनी', 'सिगरेट', 'लिपिस्टिक', 'पैबंद', 'कोलेज', 'बलगम', 'पम्पलेट' आदि विदेशी शब्दों को ज्यों का त्यों प्रयोग कर सकते हैं फिर हिन्दी शब्दों के साथ खिलवाड़ क्यों करते हैं ?

आशा है, कवि अपने आगामी प्रकाशनों में इस दृष्टि से बदलाव करेंगे।

७. पं० आशाधर : व्यक्तित्व और कर्तृत्व—पं० नेमचन्द डोंगगांवकर, प्रकाशक—अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन बघेरवाल संघ, कोटा (राजस्थान), प्रथम संस्करण—१९९५, मूल्य—५०/- ६०।

धर्म-प्रभावना बढ़ाने के दो तरीके हो सकते हैं। एक तरीका जो अनादि काल से प्रचलित है वह निवृत्ति मार्ग के पथिकों द्वारा जनसाधारण को धर्मोपदेश का है किन्तु दूसरा तरीका यह भी हो सकता है कि जन समाज के किसी योग्यतम गृहस्थ को धर्म के गूढ़ रहस्य ज्ञात करा दिए जाएं और वह अपने समाज में धर्माभूत-वितरण का कार्य करे। पं० आशाधर गृहस्थ थे और जैन धर्म के मर्मज्ञ विद्वान् भी। उन्होंने अनगारधर्माभूत और सागारधर्माभूत दोनों लिखे हैं।

निश्चय ही प्रवृत्ति मूलक कार्यों को करते हुए मात्र ८ मूल और १२ उत्तर गुणों के बीस व्रतों के पालन से गृहस्थ धर्म के प्रतिपालन की इतिथी नहीं हो सकती; किन्तु साधु जो एकाकी होता है उसके लिए गृहस्थ धर्म का प्ररूपण संक्षिप्त ही पर्याप्त हो जाता है, इसलिए वह विशेष रुचि नहीं लेगा। पं० आशाधर गृहस्थ थे और गृहस्थ की सभी आवश्यकताओं से परिचित थे इसलिए उन्होंने श्रावकाचार का सांगोपांग वर्णन किया है। उनका एक श्लोक देखिए—

इतः शमश्रीः स्त्री चेतः कर्षतो मां जयेनु का ।

आ ज्ञातपुत्रैवात्रजेत्री या मोहराट् चमूः ॥

सागार—६.३४

इस श्लोक में निर्वेदभावना, गृहस्थ छोड़ने की छटपटाहट है परन्तु यह एक गृहस्थ पण्डित की उक्ति है। और प्रत्येक धर्मप्राण गृहस्थ को धर्म में अभिरुचि के लिए प्रेरणादायक है।

वस्तुतः पं० आशाधर ने जैन समाज के लिए अपने समय में एक आदर्श मौलिक आचार संहिता का निर्माण किया था। उन्होंने अपने समय की अवस्था को पहचाना था—

कलि प्रावृषि मिथ्यादिङ् मेघच्छन्नासु दिक्ष्वह ।

खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतन्त क्वचित् ॥

वे कहते हैं कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु में दिशायें मेघाच्छादन से सूर्यप्रकाश से वंचित हो जाती हैं और कहीं-कहीं जुगनू चमकते दीखते हैं वैसे ही स्थिति जैन समाज की है ।

उन्होंने स्वयं तो जैन समाज की सेवा की ही । साथ ही अनेकों सहयोगी विद्वान् भी तैयार किए । पं० महावीर, उदयसेन मुनि, विशालकीर्ति, मदनकीर्ति, आचार्य बालचन्द्र कवि अहृद्दास, कवि विल्हण, पं० जाजाक, महीचन्द्र साहु, केल्लहण, धीनाक जैसे अनेकों विद्वानों को प्रेरणा दी और प्रभूत् संख्या में सद्ग्रन्थ लिखे ।

प्रस्तुत ग्रंथ 'पं० आशाधर : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' एक अच्छा प्रयास है । पं० नेमचन्द्र डोंणगांवकर ने काफी श्रम किया है, किन्तु यह ग्रंथ पं० आशाधर का आंशिक परिचय ही प्रस्तुत कर पाया है । पं० आशाधर का प्रामाणिक जीवनवृत्त उपलब्ध है और वे जैन धर्म के प्रभावक आचार्य हैं । विक्रमी तेरहवीं सदी में उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक—चारों दृष्टियों से सक्षम नेतृत्व दिया है उसे उजागर करने की आवश्यकता है । उनका एक कथन देखिए—

“दिगम्बर जैनी मुद्रा तीनों लोकों में वंदनीय है, समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार के लिए प्रयोजनभूत है; किन्तु इस क्षेत्र में वर्तमान काल में (१) उस मुद्रा को छोड़कर विपरीत मुद्रा धारण करते हैं । (२) द्रव्य जिन लिंग के धारी अपने को मुनि मानने वाले अजितेन्द्रिय होकर धार्मिक जनों पर भूत की तरह सवार होते हैं । (३) अन्य द्रव्य लिंग के धारी मठाधीश भट्टारक हैं जो जिन लिंग का वेश धारण करके म्लेच्छों के समान दुराचरण करते हैं । ये तीनों पुरुष के रूप में साक्षात् मिथ्यात्व है । इन तीनों का मन से अनुमोदन मत करो, वचन से गुणगान मत करो और शरीर से संसर्ग मत करो । मन-वचन-काय से इनका परित्याग करो ॥”

ऐसे मान-अभिमान वाले स्पष्ट वक्ता आचार्य का कर्तृत्व सही ढंग से उजागर करने की आवश्यकता है । प्रस्तुत प्रकाशन में और भी बहुत सी कमी रह गई है, इसलिए इस विषयक अधिक विस्तार से लिखा जाना जरूरी है ।

८. पञ्चाल (खण्ड-८, सन् १९९५) संपादक—डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव, प्रकाशक—पंचाल शोध संस्थान ५२/१६ सक्करपट्टी, कानपुर-२०८००१, मूल्य—५०/- रुपये ।

पिछले कुछ समय से पंचाल शोध संस्थान, कानपुर बहुत सक्रिय है और उसने प्रतिवर्ष एक पंचाल अंक निकाल कर अपनी सक्रियता को प्रमाणित किया है । हालांकि

उत्तरप्रदेश सरकार ने १९९३-९४ में पच्चीस हजार रुपये देकर प्रति वर्ष घटाकर १९९४-९५ में तेरह हजार और १९९५-९६ में बस हजार अनुदान दिया है किंतु संस्थान के कार्यकर्ता एवं पदाधिकारी उतने ही अधिक उत्साहित हुए हैं और उन्होंने सन् १९९५ में न केवल पंचाल का प्रस्तुत गौरवशाली अंक प्रकाशित किया अपितु ४ अप्रैल १९९५ को इलाहाबाद में प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी समारोह और २४ सितम्बर १९९५ को कानपुर में हजारीमल बांठिया सम्मान समारोह के भव्य आयोजन भी किए।

वस्तुतः पंचाल-संपादक श्री ए. एल. श्रीवास्तव जो अपनी लगन और विदग्धता के लिए प्रसिद्ध हैं, अपने सुरुचिपूर्ण संयोजन और तादात्म्य से बहुत कुछ संजो लेते हैं और निष्पत्ति के रूप में पंचाल का कोई अभूतपूर्व अंक प्रस्तुत हो जाता है।

प्रस्तुत अंक में पंचाल जनपद पर एक दर्जन से अधिक शोध पूर्ण निबन्ध हैं जो यहां की अतीतकालीन संस्कृति के अनेकों गवाक्ष खोलते हैं। श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, प्रो० राजू कलिदोस, डॉ० जी. सेतुरामन्, डॉ० चन्द्रशेखर गुप्त और डॉ० बी. एन. मिश्र आदि से आलेख प्राप्त कर लेना उनकी सफलता मानी जानी चाहिए। शोध लेखों के साथ तीन दर्जन से अधिक चित्रादि का प्रकाशन भी दुर्लभ कार्य है। ऐसे सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए बधाई।

—परमेश्वर सोलंकी

प्रकीर्णकम्

१. योगविशिका (आचार्य हरिभद्र)
२. रोडेराव की 'राउरवेल' का मूलपाठ (परमेश्वर सोलंकी)
३. राजस्थानी कहावतें—एक संक्षिप्त संकलन
४. प्रामाण्यवाद और क्वान्तका धारणाएं (शक्तिधर शर्मा)

योगविंशिका

- ० रचयिता—आचार्य हरिभद्र
- ० व्याख्याकार—उपाध्याय यशोविजयजी
- ० अनुवादक—मुनि दुलहराज

(योगविंशिका पर उपाध्याय यशोविजयजी ने टीका लिखी। उसका संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तरण मुनिश्री द्वारा प्रस्तुत है।)

१. मुखेण जोयणाओ, जोगो सब्बोवि धम्मवावारी ।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाङ्गओ विसेसेणं ॥

सारा परिशुद्ध^१ धर्म-व्यापार (प्रवृत्ति) मोक्ष से योजित करता है इसलिए वह

१. साधारणतः मोक्ष से युक्त करने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति योग है। किन्तु वास्तव में वही प्रवृत्ति योग कहलाती है जिसमें साध्य-धर्म (जिस धर्म विशेष की हमने साधना प्रारम्भ की है) की अविकल स्मृति बनी रहे तथा साधक उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर उपाय करता रहे। यहाँ 'परिशुद्ध' विशेषण विशेष अर्थ का द्योतक है। जो प्रवृत्ति प्रणिधान आदि पांच आशयों से विशुद्ध होती है, उसे 'परिशुद्ध' कहा जाता है। पांच आशय ये हैं—

- (क) प्रणिधान—जिस धर्म-स्थान (साध्य विषय) की साधना स्वीकार की है, उसकी निरन्तर स्मृति बनाए रखना। अपने से हीन गुण वालों के प्रति अनुकंपाभाव रखना। परोपकार की भावना से युक्त रहना।
- (ख) प्रवृत्ति—धर्म-स्थान की प्राप्ति के लिए उपाय करना। क्रिया की शीघ्र समाप्ति की उत्सुकता से रहित होना।
- (ग) विघ्नजय—योग साधना में विघ्न उपस्थित करने वाले कारणों पर विजय प्राप्त करना। विघ्न तीन प्रकार के होते हैं—हीन, मध्यम और उत्कृष्ट।

हीन विघ्न—कण्टकाकीर्ण मार्ग में प्रस्थित पथिक के पग-पग पर बाधा उपस्थित होती है और जब वे काटे साफ कर दिए जाते हैं तब वह अनाकुल होकर आगे बढ़ सकता है। इसी प्रकार मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त साधक के लिए शीत, ऊष्ण आदि परीषह बाधक होते हैं और उसे आकुल बना देते हैं। जब वह साधक तितिक्षा का अभ्यास कर लेता है तब वे परीषह उसे आकुल नहीं करते। यह हीन विघ्नों पर विजय पाना है।

योग है। विशेष रूप से (शास्त्रीय सकेत के अनुसार) स्थान आदि व्यापार योग कहलाता है।

२. ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ, तंतम्मि पंचहा एसो।

दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाण जोगो उ ॥

योगशास्त्र में योग के पांच प्रकार बतलाए हैं—

१. स्थान—कायोत्सर्ग, पद्मासन आदि आसन।

२. ऊर्ण—उच्चार्यमाण शब्द।

३. अर्थ—शब्द का अभिधेय।

४. आलंबन—बाह्य प्रतिमा आदि (आलंबन योग)।

५. रहित—निरालंबन योग। रूपी द्रव्य के बिना होने वाली निर्विकल्प समाधि।

इनमें प्रथम दो कर्मयोग और शेष तीन ज्ञान योग के भेद हैं।

३. देसे सव्वे य तहा, नियमेणेसो चरित्तिणो होइ।

इयरस्स वीयमित्तं, इत्तुच्चिय केइ इच्छति ॥

मध्यम विघ्न—पथिक अपने गन्तव्य पर पहुंचना चाहता है, किन्तु जब वह ज्वर से पीड़ित होता है तब उसमें गमन का उत्साह नहीं रहता। इस प्रकार स्वीकृत धर्म की साधना में शारीरिक रोग ज्वर के समान होते हैं। उनके उत्पन्न होने पर साधक शास्त्रीय विधि के अनुसार 'हिताहार-मिताहार' से उनकी चिकित्सा करे और यह सोचे कि ये बाधाएं मेरे शरीर को पीड़ित कर सकती हैं, आत्मा को नहीं। इस भावना को इतना पुष्ट करे कि रोग की विभीषिका न रहे। यह मध्यम विघ्नों पर विजय पाना है।

उत्कृष्ट विघ्न—पथिक मार्ग में चलते-चलते दिशामूढ़ हो जाता है, तब आगे बढ़ने का उसका उत्साह टूट जाता है। दूसरे पथिकों से प्रेरित होने पर भी वह उस ओर नहीं बढ़ता। किन्तु जब उसे मार्ग का सम्यग् ज्ञान हो जाता है या दूसरे पर श्रद्धा हो जाती है तब वह आगे बढ़ने को उत्सुक होता है। इस प्रकार मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त साधक में मिथ्यात्व-जनित-मनोविभ्रम उत्पन्न हो जाता है। तब वह गुरु के उपदेश से या मिथ्यात्व की प्रतिपक्ष भावनाओं को पुष्ट कर, मनोविभ्रम को दूर कर, साधना में आगे बढ़ सकता है। यह उत्तम विघ्नों पर विजय माना है।

(घ) सिद्धि—अपने से अधिक गुण वालों के प्रति विनय, हीन गुणवालों के प्रति करुणा और मध्यम गुण वालों को धर्म-स्थान की प्राप्ति कराने का संकल्प लेना।

(ङ) विनियोग—अपनी उपलब्धियों को उपायपूर्वक दूसरों को उपलब्ध कराना।

यह पांचों प्रकार का योग निश्चित रूप से देशतः या सर्वतः संयमी व्यक्ति के ही होता है। कुछ आचार्य मानते हैं कि देश या सर्व चारित्र के बिना दूसरों में यह योग बीज मात्र होता है।¹

४. इक्किकको उ चउद्धा, इत्थं पुण तत्तओ मुण्येव्वो ।

इच्छा पवित्ति-थिर-सिद्धिमेवाओ समयनीईए ॥

तत्त्वतः और योग परिपाटी के अनुसार स्थान आदि योग चार-चार प्रकार का होता है। वे चार प्रकार हैं--इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरत्व और सिद्धि।

५. तज्जुत्तकहापीईइ, संगया विपरिणामिणी इच्छा ।

सव्वत्थुवसमसारं, तप्पालणओ पवत्ती उ ॥

१. इस श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि योग का प्रारम्भ चारित्र से होता है। जिस साधक में चारित्र की जितनी विशुद्धि होगी वह उतनी ही मात्रा में योगाभ्यास में आगे बढ़ता जाएगा। दूसरे शब्दों में कहें तो यम, नियम या व्रतों के बिना योग का अभ्यास अभ्यास-मात्र रह जाता है, सिद्ध नहीं होता। चारित्र के पांच प्रकार हैं—

- (१) अध्यात्म—उचित प्रवृत्ति वाले व्रती-व्यक्तियों का शास्त्रानुसार जीव आदि तत्त्वों का चिन्तन, जो मैत्री आदि भावनाओं से गर्भित हो, उसे अध्यात्म कहते हैं।
- (२) भावना—अध्यात्म का ही प्रतिदिन प्रवर्धमान और चित्तवृत्ति को उसमें ही रखने वाला अभ्यास।
- (३) अध्यान—प्रशस्त आलंबन वाला, स्थिर दीपकलिका की भांति स्थिर तथा उत्पाद आदि सूक्ष्म पर्यायों के चिन्तन से युक्त चित्त।
- (४) समता—शुभ तथा अशुभ विषयों में समानता का अभ्यास करना।
- (५) वृत्तिसंक्षेप—मन, शरीर और अन्य संयोगात्मक वृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध।

इन पांचों का पूर्व बतलाए गए पांचों प्रकार के योगों में समावेश हो जाता है।

इस श्लोक में देश चारित्र से अणुव्रती और सर्वचारित्र से महाव्रती का ग्रहण किया है। जो व्यक्ति चतुर्थ गुणस्थान या उनके नीचे के गुणस्थानों वाले होते हैं उनमें ये योग बीज रूप में रहते हैं, व्यक्त नहीं होते। दूसरे शब्दों में उनके योग अभ्यास दशा में ही रहते हैं, सिद्ध नहीं होते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साधक को सर्वप्रथम सम्यग् दृष्टि वाला होना चाहिए। जब उसकी दृष्टि सही होती है, तब वह अपनी साधना का लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों का भी सही-सही चयन कर लेता है, अन्यथा भटक जाता है। सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति का कार्य इतना भटकाने वाला नहीं होता, जितना मिथ्यादृष्टि वाले व्यक्ति का कार्य होता है। अतः योग की सिद्धि उसी को प्राप्त होती है जिसका दृष्टिकोण समीचीन होता है।

६. तहचेव एय वाहर्गचित्तरहियं थिरत्तणं नेयं ।
सव्वं परत्थसाहगरूवं पुण होइ सिद्धित्ति ॥

इन चार प्रकारों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. इच्छा—स्थान आदि योगों को जानने की इच्छा, उनकी विधि और कर्त्त के प्रति बहुमान तथा उनका सतत अभ्यास । साधक-अंगों की पूर्ण प्राप्ति न होने पर भी योग की भावना से अपनी शक्ति के अनुसार योग में प्रवृत्त रहना ।
२. प्रवृत्ति—सभी अवस्थाओं में उपशम की प्रधानता रखते हुए स्थान आदि योगों का पालन करना । शास्त्रोक्त विधि से परिपूर्ण साधनों के साथ योग में प्रवृत्त होना ।
३. स्थिरत्व—स्थान आदि का पालन करते हुए उनमें आने वाली बाधाओं की चिन्ता से रहित होना ।^१
४. सिद्धि—परार्थ साधक रूप योग्यता ।^१ अपनी सिद्धि को दूसरों में प्रतिबिम्बित करना ।
७. एए य चित्तरूवा, तहा खओवसमजोगओ हुंति ।
तस्स उ सद्दा पीयाइ जोगओ भव्वसत्ताणं ॥

भव्य जीवों में इच्छा आदि चारों प्रकार के योग की उत्पत्ति के तीन हेतु हैं—
श्रद्धा, प्रीति और क्षयोपशम ।^१

- श्रद्धा—घनीभूत विश्वास ।
- प्रीति—कार्य करने में हर्ष, प्रमोद आदि ।
- क्षयोपशम—कर्मों की क्षीणता ।

१. प्रवृत्ति और स्थिरत्व में यही अन्तर है कि प्रवृत्ति अतिचार सहित होती है अतः उसमें स्थान आदि के बाधक तत्त्वों का चिन्तन रहता है । स्थिरत्व अभ्यास की परिपक्वता के कारण निर्बाध होता है, उसमें बाधक तत्त्वों का चिन्तन नहीं होता ।
२. स्थान आदि योगों का फल है—उपशम विशेष की प्राप्ति । अभ्यास-क्रम से यह साधक को प्राप्त हो जाती है किन्तु इसे सिद्धि नहीं माना जा सकता । जब ये योग दूसरों में भी उपशम उत्पन्न करते हैं, तभी वह सिद्धि मानी जाती है । यही इसका परार्थ साधक रूप है ।
३. जिस व्यक्ति में जितना क्षयोपशम होता है, उसे उतनी ही मात्रा में इच्छा आदि योगों की प्राप्ति होती है । इस मार्ग में प्रवृत्त होने वाले साधक को यदि सूक्ष्म बोध नहीं भी होता तो भी उसकी मार्गानुसारिता का हनन नहीं होता । अपने-अपने क्षयोपशम की तरतमता से वे योग में प्रवृत्त होते हैं और उसके अनुसार ही सिद्धि को प्राप्त होते हैं ।

८. अणुकंपा निव्वेओ, संवेगो होइ तह य पसमुत्ति ।

एएसि अणुभावा, इच्छाईणं जहासंखं ॥

इच्छा आदि योगों के यथाक्रम ये अनुभाव (कार्य) हैं—

- ० इच्छा—अनुकंपा (करुणा—दुःखी व्यक्तियों के दुःख-हरण का प्रयत्न) ।
- ० प्रवृत्ति—निर्वेद (भव-विरक्ति) ।
- ० स्थिरत्व—संवेग (मुक्त होने की अभिलाषा) ।
- ० सिद्धि—प्रशम (तृष्णा का उपशमन) ।

९. एवं ठियम्मि तत्ते, नाएण उ जोयणा इमा पयडा ।

चिइवंदणेण नेया, नवरं तत्तण्णुणा सम्मं ॥

योग तत्त्व की इस प्रकार की व्यवस्था होने पर तत्त्वज्ञ व्यक्ति का सम्यक् प्रकार से चैत्यवन्दन के दृष्टान्त से इसकी स्पष्ट योजना जाननी चाहिए ।

१०. अरिहंतचेइयाणं, करेमि उस्सग्ग एवमाइयं ।

सद्धाजुत्तस्स तहा, होइ जहत्थं पयनाणं ॥

‘अरिहंत, चैत्य आदि का मैं कायोत्सर्ग करता हूं’—इस प्रकार उच्चारण करने वाले श्रद्धायुक्त व्यक्ति को पद का यथार्थ ज्ञान होता है ।

११. एयं चत्थालंबणजोगवओ, पायमनिवरियं तु ।

इयरेसि ठाणाइसु, जत्तपराणं परं सेयं ॥

पद-परिज्ञान के अर्थ के आलंबन में युक्त व्यक्ति को प्रायः वह (पद-परिज्ञान) परम फल की प्राप्ति का हेतु होता है । यह भावक्रिया है । जो अर्थ का आलंबन लेकर

१. मूल बात यह है कि जो व्यक्ति योग का अभ्यास करना चाहता है उसका पहला सोपान है कि उसमें योगशास्त्र, योग की विधि और योगियों पर अटूट श्रद्धा और बहुमान हो तथा उसका दृष्टिकोण सम्यक् हो । जब उसमें ये बातें आती हैं, तब उसे इच्छायोग में प्रवृत्त माना जाता है । इच्छायोग की घनीभूत अवस्था से साधक में अनुकंपाभाव का विकास होता है । इच्छा कारण है और अनुकंपा कार्य । दूसरा सोपान है—प्रवृत्ति । इसके अभ्यास से व्यक्ति में भव-भ्रमण के प्रति विरक्ति होती है और वह सतत वृद्धिगत होती जाती है । तीसरा सोपान है—स्थिरत्व । जब उसमें स्थिरता आती है तब वह सभी बाधक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है । इसका प्रतिफलन उसकी मुमुक्षुभाव की वृद्धि में होता है । जब वह अन्तिम सोपान पर पैर रखता है तब उसकी सारी तृष्णाएं नष्ट हो जाती हैं । तृष्णा का अभाव योग-सिद्धि का प्रतिफलन है । इसका फलितार्थ है, जो व्यक्ति योग में प्रवृत्त होगा उसमें ये चार फलित होंगे—

१. करुणा का विकास ।

२. भवविरक्ति की भावना का विकास ।

३. स्वतन्त्र होने की भावना का विकास ।

४. वितृष्णा अवस्था का विकास ।

स्थान आदि में युक्त होते हैं उन्हें केवल श्रेयस् की प्राप्ति होती है, निर्वाण प्राप्त नहीं होता ।

१२. इहरा उ कायवासियपायं अहवा महामुसावाओ ।
ता अणुरुवाणं चिय, कायव्वो एय विन्नासो ॥

अन्यथा (भावक्रिया के बिना) वह अनुष्ठान केवल छाया की चेष्टा मात्र अथवा महामूषावाद के दोष से युक्त होता है । इसलिए इस विधि का अभ्यास उन व्यक्तियों को कराना चाहिए जो अध्यात्म में एकरस हों ।

१३. जे देसविरइजुत्ता, जम्हा इह वोसिरामि कायं ति ।
सुव्वइ विरईए इयं, ता सम्मं चितियव्वमिणं ॥

जो व्यक्ति देशविरति से युक्त है, वे ही योग के अभ्यास के लिए उपयुक्त होते हैं, क्योंकि वे कायोत्सर्ग का अभ्यास करते रहते हैं । कायोत्सर्ग का अभ्यास विरति से होता है, अतः इस तथ्य पर सम्यक् चिन्तन करना चाहिए ।

१४. तित्थस्सुच्छेयाइवि, नालंबणं जं ससमएमेव ।
सुत्तकिरियाइ नासो, एसो असमंजस विहाणा ॥

‘तीर्थ का व्युच्छेद न हो, इसलिए अविधि-अनुष्ठान भी कर लेना चाहिए’— ऐसा आलंबन न ले । क्योंकि अविधि-अनुष्ठान से अशुद्ध परम्परा की प्रवृत्ति होती है और उससे सूत्र और क्रिया का नाश होता है । यही वास्तव में तीर्थ का उच्छेद है ।

१५. सो एस वंको चिय, न य सयमयमारियाणमविसेसो ।
एयं पि भावियव्वं, इह तित्थुच्छेयभीरुहिं ॥

अविधि से किया जाने वाला यौगिक अनुष्ठान कुफलदायी होता है । जो व्यक्ति परंपरा की व्युच्छित्ति के भय से अविधियों का आलंबन लेते हैं, उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि स्वाभाविक मृत्यु से मरने या हत्या द्वारा मारे जाने में कोई अन्तर नहीं है ।

[इसका प्रतिपाद्य यह है कि विधिपूर्वक अनुष्ठान न होने पर परंपरा का व्युच्छेद होता हो तो भले हो, किन्तु अविधि से उसकी सुरक्षा कभी भी बांछनीय नहीं है ।]

१६. मुत्तूण लोणसन्नं, उड्ढूण य साहु समय सब्भावं ।
सम्मं पयट्टियव्वं, बुहेण मइनिउणबुद्धीए ॥

लोकसंज्ञा को छोड़कर, समीचीन सिद्धान्त के रहस्य को जानकर ज्ञानी व्यक्ति को अति निपुणबुद्धि से विधिपूर्वक वर्तन करना चाहिए ।

१. सिद्धान्त का रहस्य यह है—

१. लोकमालम्ब्य कर्त्तव्यं, कृतं बहुभिरेव चेत् ।

तदा मिथ्यादृशां धर्मो, न त्याज्यः स्यात् कदाचन ॥

‘बहुतों ने यह किया है इसलिए मुझे लोगों के अनुसार ही करना चाहिए’— यदि इस मान्यता के आधार पर चला जाए तो मिथ्यादृष्टि वाले व्यक्तियों के धर्म (कर्तव्य) का कभी परिहार नहीं ही सकता ।

२. स्तोका आर्या अनार्येभ्यः, स्तोका जैनाश्च तेष्वपि ।

सुश्राद्धास्तेष्वपि स्तोका, स्तोकास्तेष्वपि सत्क्रियाः ॥

अनार्यों से आर्य थोड़े हैं, आर्यों से जितेन्द्रिय पुरुष थोड़े हैं, उनसे सुश्रावक थोड़े हैं और सुश्रावकों से सत्क्रिया करने वाले श्रावक थोड़े हैं ।

३. श्रेयोधिनी हि भूयांसो, लोके लोकोत्तरे च न ।

स्तोका हि रत्नवणिजः, स्तोकाश्च स्वात्मशोधकाः ॥

लोक या लोकोत्तर में श्रेयस् की कामना करने वाले थोड़े ही होते हैं । इस संसार में जैसे रत्नवणिक् थोड़े होते हैं वैसे ही अपनी आत्मा का शोधन करने वाले भी थोड़े ही होते हैं ।

४. एकोऽपि शास्त्रनीत्या यो, वर्तते स महाजनः ।

किमजसार्थैः शतमप्यन्धानां नैव पश्यति ॥

जो व्यक्ति अकेला रहकर भी शास्त्र की नीति के अनुसार वर्तन करता है, वह महाजन है । मूर्ख व्यक्तियों के समूह से क्या ? सैकड़ों अंधे एकत्रित हो जाने पर भी वे देखने में समर्थ नहीं होते ।

५. यत् संविग्नजनाचीर्णं, श्रुतवाक्यैरबाधितम् ।

तज्जीतं व्यवहाराख्यं, पार्यपर्यविशुद्धिमत् ॥

जिस विधि का आचरण संविग्न व्यक्तियों ने किया है और जो शास्त्र-वाक्यों से अबाधित है, उसे जीत व्यवहार कहा जाता है और वह परम्परागत होकर भी विशुद्ध है ।

६. यदाचीर्णमसंविग्नैः श्रुतार्थानवलम्बिभिः ।

न जीतं व्यवहारस्तदन्धसंततिसंभवम् ॥

शास्त्रों का आलंबन लिए बिना जिस मार्ग का आचरण असंविग्न व्यक्तियों ने किया है, वह जीत व्यवहार नहीं कहलाता । वह तो अंध-परम्परा का अनु-गमन मात्र है ।

७. आकल्पव्यवहारार्थं, श्रुतं न व्यवहारकम् ।

इतिवक्तुमंहत्तन्त्रे, प्रायश्चित्तं प्रदर्शितम् ॥

जो ऐसा कहता है—श्रुत का प्रयोजन है कल्प का प्रवर्तन करना । श्रुत स्वयं व्यवहार का नियामक नहीं है ?—ऐसे व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान है ।

८. तस्माच्छ्रुतानुसारेण, विध्यैकरसिकर्जनैः ।

संविग्नजीतमालंब्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥

इसलिए विधि में एकरस होने वाले व्यक्ति श्रुत के अनुसार संविग्नजीत का आलंबन लें । यही भगवान् की आज्ञा है ।

१७. कयमित्थपसंगेणं, ठाणाइ सु जत्तसगयाणं तु ।

हियमेयं विन्नेयं, सदणुट्ठाणत्तणेण तथा ॥

अधिक विस्तार से क्या ? जो स्थान आदि योगों में प्रयत्नशील हैं उनके लिए ये अनुष्ठान हितकर हैं—मोक्ष के साधक हैं तथा ये सद् अनुष्ठान होने के कारण स्वतंत्र रूप से भी मोक्ष-प्रदायक हैं ।

१८. एयं च पीयभत्तागमाणुगं, तह असंगया जुत्तं ।

नेयं चउव्विहं खलु, एसो चरमो हवइ जोगो ॥

यह सद् अनुष्ठान चार प्रकार का है—प्रीति अनुष्ठान, भक्ति अनुष्ठान, आगम अनुष्ठान (वचन अनुष्ठान) और असंग अनुष्ठान । असंग अनुष्ठान ही चरम योग है ।

१. प्रीति अनुष्ठान—जिस अनुष्ठान में प्रयत्न की विशेषता होती है, जिसमें परम प्रीति का उदय होता है उसे प्रीति अनुष्ठान कहा जाता है ।

२. भक्ति अनुष्ठान—आलंबन की तुल्यता होने पर भी पूज्यत्व की विशेष बुद्धि से जो विशुद्ध प्रवृत्ति की जाती है, उसे भक्ति अनुष्ठान कहा जाता है ।

पत्नी अत्यन्त वल्लभ होती है और जननी अत्यन्त हितकर । इन दोनों का कृत्य (भोजन परोसना या शय्या बिछाना) समान महत्त्व के होने पर भी पत्नी के प्रति प्रीति और जननी के प्रति भक्ति होती है । यही प्रीति और भक्ति में अन्तर है ।

३. आगम अनुष्ठान या वचन अनुष्ठान—चारित्रवान् व्यक्ति की उचित वचनात्मक प्रवृत्ति ।

४. असंग अनुष्ठान—बार-बार के अभ्यास से जो क्रिया आत्मसात् हो जाती है, पश्चात् तज्जनित संस्कार से वह वचन निरपेक्ष होकर चलती है, उसे असंग अनुष्ठान कहा जाता है ।

१९. आलंबणंपि एयं, रूवमरूवी य इत्थ परमुत्ति ।

तग्गुणपरिणइ रूवो, सुहुमोऽणालंबणो नाम ॥

आलंबन दो प्रकार के होते हैं—रूपी—मूर्त द्रव्य का आलंबन और अरूपी—अमूर्त द्रव्य का आलंबन । अरूप के आलंबन में तद्गुण परिणत रूप (उस वस्तु में रहे हुए रूप का आलंबन) का ही सूक्ष्म आलंबन रहता है । यही अनालंबन योग है ।

२०. एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेत्र ।

तत्तो अजोगजोगो, कमेण परमं च निव्वाणं ॥

इस निरालंबन ध्यान में मोह सागर को तैरा जाता है और फिर क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर योगी केवलज्ञान को पा लेता है । उसके बाद क्रमशः अयोग होकर वह परम निर्वाण को पा लेता है । □

रोड़ेराव की 'राउरवेल' का मूलपाठ*

परमेश्वर सोलंकी

कवि जयराम अपरनाम रोड़ेराव ने गाथाओं में "धम्मपरिक्खा" लिखी थी। कवि हरिषेण ने उसे पद्धडिया छन्द में लिखा और राजा भोज के सभारत्न, कवि अमितगति ने उसी को "धर्म-परीक्षा" के रूप में संस्कृत में लिखा। इस प्रकार 'राउर-वेल' विक्रमी ग्यारहवीं सदी पूर्वार्द्ध की रचना है।¹

* उक्त शिलालेख पर अनेकों विद्वानों ने कलम चलाई है। प्रमुख हैं विषय के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० हरिवल्लभ भायाणी और हिन्दी साहित्य जगत् के जाने माने डॉ० माताप्रसाद गुप्त। डॉ० भायाणी ने इसे 'भारतीय विद्या'—भाग १७ अंक ३-४ में 'प्रिस ऑव वेल्स म्यूजियम स्टोन इन्सक्रिप्सन फ्रॉम धार' नाम के प्रकाशित किया और बाद में "राउरवेल ऑव रोडा"—शीर्षक से भी उन्होंने इस पर लिखा है। डॉ० गुप्त ने इस संबंध में "हिन्दी अनुशीलन—धीरेन्द्र वर्मा अंक" में लिखा और फिर उसे 'राउरवेल और उसकी भाषा'—शीर्षक से छपवाया। दोनों विद्वानों के ऊहापोह पर अलग से चर्चा की जाएगी।

१. हरिषेण की 'धम्म परिक्खा' वि० सं० १०४४ में और अमितगति की 'धर्म-परीक्षा, वि.सं. १०७० में लिखी गई है। हरिषेण ने अपना वंश-परिचय दिया है। वह मेवाड़ में चित्तौड़ का निवासी है और उजौर से उठे हुए धक्कड़वंशी श्रीहरि उसके पितामह और गोवर्धन उसके पिता हैं। 'धम्म परिक्खा' के ही अन्तर साक्ष्य से दूसरे वंश के राजराणा रोड़ेराव अपरनाम कवि जयराम ने 'धम्म परिक्खा' गाथाओं में लिखी थी जिसका पद्धडिया छन्द में रूपान्तरण हरिषेण ने किया और उसके दो पात्र—मनोवेग और पवनवेग के रूप में अपना और अपने मित्र (रोड़ेराव के पुत्र) का स्पष्टीकरण भी उसने संधि-२ के चौथे और छठे छंद में कर दिया—

समत्थत्थवेईण भट्टाण ढाणे ।

करे हरिसंज्ञेण वं हंणियाणे ॥४॥

× × ×

तउ भासियं तेहि रौडेहं पुत्तं ।

ण जुत्तं पि रंजेवि अट्टाणचित्तं ॥६॥

—देखें, तुलसीप्रज्ञा, लाडनू, भाग १९ अंक ३ पृ० २५७-२५८ पर प्रकाशित पुस्तक-समीक्षा ।

वर्तमान में यह शिलालेख 'प्रिंस ऑव् वेल्स म्यूजियम, बम्बई' के आर्कलोजिकल सेक्शन (क्रमांक-९) में सुरक्षित है। इस खंडित शिलालेख को फ्रेम में सुरक्षित कर रखा गया है जिसका ऊपरी दाहिना कोना (१० $\frac{३}{४}$ " \times ६ $\frac{३}{४}$ "') और नीचे का हिस्सा घिसा पिटा है। शिलालेख लगभग ९५" \times ३३" इंच में खोदा गया है। यहां उसका मूलपाठ पंक्ति अनुक्रम में प्रस्तुत है :-

पंक्ति—१. (स्वस्ति ॐ) नमः सिवा (यः ॥)
 गोइराउ (राजराणउ) राउरवेल बखानउ ॥
 (आपउआप) जो जेम्ब जणइउ ।
 सिगम्ब वरणेऊ (हाव राण राजऊ) ॥०॥
 (१)'

- ।
२. /तु मा(लवी)उ भावइ ॥
 आंखिहि काजलु भरयउ सजइ ।
 भावउ तुछउ फुल्लउ (महकइ ॥)^२
 अह(रू) तंबोले मणुमणु राजउ ।^३
 सोह देइ कवि आनन्दिउ ॥

३. /लीता(-) मनम्बही मोहंथि ॥
 जाला कांठी गलइ सुहावइ ।
 आहुकि सोभइ ताकरि भावइ ॥
 एहइ तरुणिहं माणुणु भालउ ।
 ज जसु रुचइ सो (तसु बोलउ ॥)

४. /णुम(ज्ज)इ डीजइ ॥^४
 रातऊ कंचुआ अति सुठु चांगउ ।^५
 गाढउ पाटउ (कडुओरा) आगउ ॥^६
 पडुहा पहिरणु भालउ भावइ ।
 तामु सोहकि कछइ पावइ ॥

१. यह प्रस्तावित खण्ड बताये गये हैं ।

२. तुछउ=देखिये—देशी० ५.१५—तुच्छयः—अनुराग भरा ।

३. तंबोले= ,, —कुव० १५२-१३—तंबोल—रइय राओ अहरो दृष्टा कामिनी जनस्य ।

४. णुमज्जइ= ,, —हेम० १.९४—णुमज्जई—डूबना, बैठना ।

५. कंचुआ= ,, —पउम० ९.११—कंचुआ—चोली ।

प्रस्तावित= ,, —कुव० २५.६—कडुओरा—कटिसूत्र ।

पाटउ= ,, ,, ११३.१०—पाटलादाम—कंठ का आभूषण ।

॥ ५. / हुं वेस न (आवइ) ॥
 विणु आहरणें जो पय्यह साह ।^१
 आनव ना तह मोहिउ (वाह) ॥
 अइसी बेटिया जा घरू आवइ ।
 ताहि कि तुलिम्ब काउ पावइ ॥०॥×॥×॥

(२)

॥ ६. / छहि गाहाकि (—) देखसि ॥^१
 चलि अहि वावलि अहिज चागिम्ब ।
 ते वानतु (चाली एहिज) लागिम्ब ॥^१
 (के) अहिआ तुज विअइल फूले ।^१
 अछउ ताउकि तेहचे बोल्ले ॥

॥ ७. / काचुवो डालाव (इ) ॥^१
 (धीवलि)ह पडिव नहचि जै रेख ।^१
 ते चीन्तव तह आनिकउ वेख ॥
 (कट) कचि कांठी कांठिहि सोहइ ।^१
 लाकहची दिठि माडवि खोहइ ॥
 आगिहि ला
डी ॥

॥ ८. पडिह / ली म ।
 (आ) निकु वानू जो एथु वेढा ॥
 आविलु काछडा दडु ग (ड्डा) ।
 आनिकु जीवणुउ (रू) थड्डा ॥
 हाथिहि रीठे ऊजल लान्ह ।
 जो पुडि तागे आविलु साह ॥
 पाटी गाढी ।

-
१. आहरणें=देखिये—श्राद्धप्रति० १२—आहरण—आभूषण ।
 २. गाहाकि= ,, —सूअनि. १.१६—गाहीकिय—गाथीकृत ।
 ३. लागिम्ब= ,, —सेतु० १५.७५—लाइअव्व—जोड़ना ।
 ४. अहिआ= ,, —गा० ३८—अहिआअ—कुलीन ।
 विअइल ,, —हे० १.१६६—विअइल—पुष्पवृक्ष ।
 ५. डालाव(इ) ,, —चुपइफागु-५३—‘गमे गमे दादर डोलवइ’ ।
 ६. (धीवलि)इ= ,, —मोहनीफागु० ९—‘उरिअे थीवलि तीणि’ ।
 ७. कटकचि= ,, —कुव० १४.२९; ३०.३०—कटक—अलंकरण ।

खण्ड २२, अंक २

- ॥ ९. जणु काग्वे/.....॥
 पाइहि पाहसिया निरूचाग १
 लोणवि आनिकु नाडी आगा ॥
 गोलेउ चढि अऊ ऊचि देसु १
 आनिक तह चावा वेसु ॥
 चातलु भण हुणि त(—)मेडि भांकइ १
- ॥ १०. ते आपुली गम्वारिम्ब आंख/इ ॥
तरुणि ग्वाडी ॥
 पा भली को नाउ अकाडी ॥
 (ए) कवि अइसी राउल सोही ॥
 देखत तांही मयणुव मोही ॥०॥×॥×॥

(३)

- एहु कानोडउ काइ राउ भाखइ १
 ॥ ११. वेसु अम्हाणउ नाजउ देख/इ ॥
 अउंडउ जो राउल सोहइ ॥
 एइनउ सोएउ कोक्कु न मोहइ ॥
 ढहरउ आंखिहि काजलु दीनउ ॥
 जो जाणइ सो थइनउ वानउ ॥
 करडिम्ब अनु कांचडिअउ कानहि १
- ॥ १२. काइं करेवउ सोहहि आ/नहि ॥
 गलइ पलुकी (भावइ) कांठी १
 कामुतणी सोहरइ न (दिट्टी) ॥
 लावभ लांवउ कांचू रातउ १
 कोकुन देखतु करइउ मातउ ॥

१. पाहसिया—पैरो का आभूषण

२. ऊचि देसु—देखिये—कुव० ६५.१—‘तीएय णयरीए पच्छिम दक्खिणे दिसाभाए उच्चस्थलं णाम गामं ।’

गोलेउ= ॥ कुव० ॥ —‘अडडे ति उल्लवते अहपेच्छइ गोल्लए तत्थ ।’

३. मेडि= ॥ कुव० १८६.१२—मेडी—पशु बंधन काष्ठ

४. काइं= ॥ सावयधम्मदोहा (देवसेन) में ‘काइं’—शब्द प्रयोग—
 ‘काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पहु पडिकूलु ।

काइं मि परहुण तं करहि एहु जु धम्महु मूलु ॥’

कानोडउ= ॥ —कुवलममाला—‘अडि पांडि मरे’ णिरे
 पेच्छइ कणाइए अण्णे ॥२८॥

५. करडिम्ब=कानों में लटका कर पहना जाने वाला आभूषण ।

६. पलुकी=‘पुलअ’=रत्न विशेष से बना आभूषण

७. लावभ=लांवज (खसखस तृण) से बना वस्त्र, देखिये—देस्त्री० ७.२१

- थणहि सो ऊंचउ किअउ राउल ।
 तरूणा जोवन्न करइ सो वाउल ॥
 १३. वाह/डिअउ सो म्वालउ दीहउ ।^१
 (कवण)उ आधि न तहु जणु चाहउ ॥
 (हा)थहि माठिइउ सुठु सोहहि ।^२
 एथु खता जणु सयलइ चाहहि ॥
 पहिरणु फरहरें पर सोहइ ।^३
 राउल दीसतु सउ जणु मोहइ ॥
 १४. भुणि नेउरा/णी का न सुहाबइ ।
 अरू रे (नथुवा) कासु न भावइ ॥
 हांस गलउ जो चालति अइसी ।
 सोवा वरउ राउल कइसी ॥
 जहि घर अइसी उलगं पइसइ ।^४
 त घरू राउलु जइसउं दीसइ ॥०॥×॥×॥

(४)

१५. केहा टेल्लिपुत्त तुंह भांखहि ।
 (उलगं हु) वेहु तुंह आखहि ॥
 वेहु एककु सो एथु वनिज्जइ ।
 जो अक्खदह हीआ भिज्जइ ॥
 यहुा केह पाहु जो वड्ढा ।
 सो घर तेहा गोरी लड्ढा ॥
 चंदस वाणा टीहा किय्यइ ।
 १६. जे मुहुं/एककणवि मंडिज्जइ ॥
 अक्खिहि कज्जलु गहरा दित्ता ।
 जो निहालि करि मयणु मत्ता ॥
 कय्यडि अहि सोहहि बुइ गन्न ।
 मडन-सडन डहि परि अन्न ॥
 कंठी कंठि जलाली सोहइ ।

१. वाह/डिअउ=लम्बी भुजाए

२. हाथहि माठिइउ=मांसल हाथ

३. पहिरणु फरहरें=फड़फड़ाहट करने वाला पहराण

४. उलगं—देशी० स्त्री

- ॥ १७. एहां तेहां सउ जणु मोह/इ ॥^१
 आघूघाड़े थर्णाहि जो कस्यूं ।^२
 सो सन्नाहि अणंगही नस्यूं ॥
 विएय्यणि जे थण दीसहि ।
 ते निहालि सव वथुउ वीसहि ॥
 गोरइ अंगि विरंगा कय्या ।^३
 संझहि जोन्हहि न सगउ ह्यां ॥
 पहिरणु घाघरेहि जो केरा ।^४
- ॥ १८. कछ/ड़ा बछड़ा ढाँहि परइ तेरा ॥
 (सुथनी) मांझी कइला पहिरणु ।
 पाखइ पाखउ धावइ तसु जणु ॥
 एहा वेह सुहावा टेल्ल ।
 आन्नउ सदाउहि परइ गेल्ल ॥
 एही टक्कणि पइसति सोहइ ।
- ॥ १९. सो निहालि जण मलम/ल चाहइ ॥०॥×॥×॥

(५)

- कीसउ वंडीरा टाक (तु हु बोलसि) ।^५
 गउड़िहु आगे वान तु भूलसि ॥
 तइकी कतह्व वेसरे दीठे ।
 जेहर तेहर वानसि वे वे ॥
 गोढ मु आणु सतइ कत दीठे ।
 ते देखि वेसकि भावथि मीठे ॥
- ॥ २०. ते/वेहु बाघेँहि केस ज लढहिम्ब ।
 खोप वलीए कहुरे.....सम्ब ॥

१. एहांतेहां—देखिए कुवल०—‘एहं तेहं चवंते ढक्के,
 उण पेच्छए कुमरो ॥२२॥’

२. टक्क देश जो आधुनिक राजस्थान का ही भूभाग था, उसमें ग्रामीण औरतें ऐसी कांचली पहनती हैं जो स्तनों को आधा ही ढकती हैं ।
 ३. कय्या=कैसे और कांइ=क्या—शब्द बीकानेर, जोधपुर और जयपुर डिविजनों में प्रयुक्त होते हैं ।
 ४. घाघरा राजस्थानी पहराण है किन्तु पुरानी बहावलपुर रियासत से लगे क्षेत्र में आज भी भारी घाघरा पहना जाता है जिससे औरत को घूम-भूमकर चलना होता है ।
 ५. वंडीरा=घर का मुखिया ।

- खोपहि ऊपर अगवअल कहस ।^१
रवि जणि राहू घेतल जइस ॥
दिठहुल फूल अम्हारे म्वाभ्थि ।
ते देखि तरूणे सावइ म्बभ्थि ॥
२१. वृद्धे फूल तारे मण/हारे ।
रयणि मुंहा जणु गणिए तारे ॥
रे रे बर्बर देखु रे (तू चाहु) ।^२
तारिनि लाड़ी सरिसी काहु ॥
भउही तूर री देखु वर्बर कइसी ।
वाहि काम्व करी वणु अुवणी जइसी ॥
अरे अरे वर्बर देखसि न टीका ।
२२. चांदहि ऊपर एह/भइ टीका ॥
वटुला टीका केहर भावइ ।
मुंह ससि उलगं हु चावइ ॥
विणु बनवारां अछणे ना वारसि ।^३
वुडिह रे वडिरो आपणी हारसि ॥
कानहु पहरिले ताडर पात ।
जणु सोहइ एवं सोहरे पात ॥
२३. गुआरांण दे/सण रे रात ।
आठकुडी पुत (ते अर) गात ॥
कांठहि मांडणु प..... लर तागु ।
सोलहि मयणाहि एवं भेअल लागु ॥
मासे सोना जालउ की जइ ।
मोत्ता सर सोह ते न्नह सीजइ ॥
२४. गंठिआ तागउ गलेहि सो भूस/णु ।
जो देखि वडिरो को न मुभइ जणु ॥
गल करीअहु करउ सो हारू ।^४
(सो देखि) हारह्वभउ अब हारू ॥

-
१. अगवअल=माथे पर की लट्टे जिन्हें आभूषण पहनने को छोटा कर दिया जाता है ।
जूडे की माला भी अगवअल कही जाती है ।
२. बर्बर - यह कवि, डाहल कर्ण का दरबारी कवि माना जाता है जिसका शासन
सं० १०४०-५० है । इस प्रकार से यह रोडेराव का समकालिक
कवि है और संभवतः बालसखा भी है ।
३. बनवारां=पान के आकार का ललाट पर पहना जाने वाला आभूषण ।
४. गल करीअहु=संबंध की बात करेगा ।

- अणहर मांभे जो हारू सूतेरउ ।
 सोहह्व रावउ सो एभुज ठेरउ ॥
 पारड़ी आंतरे थणहरू कइंसउ ।^१
 ,, २५. /सरय जलय विच चाडा जइसउ ।^२
 सुतेर हारू रोमावलि कसिअउ ।
 जाणि गांगह जलु जउणहि मिलिउ ॥
 पैह्वअ लवाही जे चंदहाइ ।
 वीजर चांदहि ते चंदराइ ॥
 आंगहि माडणु अंगेर उजालु ।
 ,, २६. कांठी/बेटी वंडिरो आलु ॥
 काछा पेहरण केरिज सोह ।
 आन सराहत सुणि गहि खोह ॥
 विउठणु सेंदुरी सेलदही कीजइ ।^३
 भउ देखि तारउ सब जणु खीजइ ॥
 धवलर कापड़ उठिअल कइसे ।^४
 ,, २७. मुह ससि/जोहं पसारेल जइसे ॥
 अइ सोउ वेसु जो गउडिहुं केरउ ।
 छाडि एहु भव दिउ सवु तारउ ॥
 जेहर रूचइ तेहर बोलू ।
 तोरे वेसहि आधिकि मोलू ॥
 अइसी गउडिज राउले पइसइ ।
 ,, २८. सो जणु ला/छि मांडेउ दीपइ ॥०॥×॥×॥”

(विवेचना)^५

गोड तुहुं एक के पतुअउ
 सबउ (बरऊ) इसह्व (भइ) बोलइ ।
 जे पुणु मालवीउ वेसुहि
 आवतु काम्वदेउ जोउ आपणाह हथिआर हुं भूलइ ॥

१. पारड़ी=कांचली (महीन वस्त्र की)— परादिका

२. चाडा=छोटी मटकी

३. सेंदुरी सेलदही=घारीदार महिन वस्त्र

४. बहू-बेटी को ऊपर से सफेद कपड़ा ओढ़ना होता है ।

५. सोजणु लाछि मांडेउ=छोटे मंदिर में जैसे लक्ष्मी ।

संभवतः ऐसी ही रमणी के लिए कवि-बब्बर की भी निम्न उक्ति है—

खंजण-जुअल णअण वर उपमा, चारूकणअ लई मुअ जुअ सुसमा ।

फुल्ल कमल मुहि गअ वर गमणी, कामु सुकिअ फल विहि गढु तरूणी ॥

६. हमारी समझ में कवि ने पांच ही तरूणियों का परिचय दिया है । फिर उनके हाव भाव की विवेचना की है ।

२९. इहां अम्हार/इदुभगी खोप करिउ बोझइ ।
तुहि सरिखउ कहाइउ माथिएउ कि (सीझइ) ॥
खोपहि ऊपरि मेलहहउ दीनउ वानते किसउ भावइ ।
जिसउ सिदुरिअउ रजायसु काम्बदेउह करउ नावइ ॥
३०. नि/लाडु रतु रूरउ सुपवाणु न मान्हउ न ऊचउ ।
सो देखिउ अठकहि करउ चांदुअ इसउ भावइ ॥
केर एहु ऊडिलउ जनउ ठेचउ चउहंदु रदुइ ।
तुररीहि सान्हीहि आडाढ आखिहि क रइ गुणइ ॥
३१. ज/इसउ काम्ब करउ धनुहउं चढाविधउ
निढालि टीके तुरूरे कीएं तें काम्बहउ ।
जइसी करीहि भालिहि करउ का जणवियउ ॥
सीन्हाहं पुडहं नकितुरूरउ सुरेखु सोइ
३२. वो माहे रावह ऊतरिअउ/अइसउ करीउ तुहुं लेखु ।
आखिर फाटा तीखा ऊजला
तरला ते वानति जीभइ खूझइ ।
तइसउ हथिआरू पाविउ
काम्बदेउ जगही कांइ करिसी
अइसउ बृहस्पति ही नउ सूझइ ॥
३३. /आंखिहि रातु रूरउ काजलु दीनउ कइसउ ।
जणु चाखुहु करइ भवइ किहयउ जिसउ ॥
पुनि वहि करउ चांदु फाडिउ
हरिणु पाखइ घालिउ दुइ कपोल जिसा किआ ।
३४. देखतहं/सबहं तरूणाहं अपाविवे करी
खणुसइ धस धस पडहिं हिआ ॥
कनवा सही कान कांटा वइ करउ खूटउ बोलु ।
कें कें केतउ न खपिअउ एहि जगी आधि न मोलु ॥
३५. तेन्हर पइ हिंआ घडिव/न किसा भावर्थि ।
जणु पुनिवहि पुनिवहि करी चांदके अइसहि करउ
सुहावउ बोलु सुअण —फडिउ (आप) नावर्थि ॥
तेहि करइ तुलिउइ उपइलेउ वइ सुकवि सोह लाधी ।
३६. जे वीवी पालह/असाढ आम्ब पल्लवह तेन्नसिउ विलाधी ॥^१
समुदाइ कज मूह करी सो भूसणइ
कांइ पदाणु हरइते उपमानु करहुं ।
.....आपणी अछइ सकूडी वानणी^२
नाह करी करिउ सही अवहरहुं ॥

वीवी=कुंदरू की बेल

वानणी=नर्तकी, मायाविनी

- ॥ ३७. /तैं एकावली गलइ एक बाँधी (सो)
सइराइसइ भावइ ।
जणु मुंहचंदु उलगणहुं नखतवाल
सतावीस गलइ अइसउ भावइ ॥
थण रूपह्ला ऊचा वाडुला पीणा
- ॥ ३८. सोनाह करा मंगलकलस जिसा भा/वहि ।^१
आनुकि काम्बदेउहकरीह घरह करिउह तासु सोह पावहि ।
तिवलिहि मांभि रोमराइ कइसी धरइ जो सोभहि करइ ।^२
पांखइ दुहु आंधह जूभ तह निवाडउ करइ ॥
- ॥ ३९. तहं मांडणु सातउ/(मुणाणिहुं) मोतीहुं करउ एकु जो हारू ।
सो सोह देख तह अइसउ भावइ
अणसारउ अणसारउ हुं अउ एहुं संसारू ॥
जे पुण जंबही ते हाथही पायही
पइहरिआ सोना केरा चूड़ा ।
- ॥ ४०. सो देखि /.....जे वेस
ते सब भावहि कूड़ा ॥
तेर तइसी बोडबाही पड़िकरी पइत्तीज कांचुली भइ
रहा नइ सोह कवि चहइ ।
अरे काम्बदेउइ सनाह किय उत्पात तुम्ह
- ॥ ४१. नहीं छोडिहउ तिहु/.....कहइ ॥^१
पइह्लणह निरी पेहरिआह काछइइ ।
सहुज सोह सुकि कउणु वेस पाम्बइ ॥
आवेसहि छिवि अरे गोड हो-
गोल्लाहि बोलउ जो जस भावइ ।

१. पंक्ति ३७ में कवि गलहार को मुखचन्द्र से निकले २७ नक्षत्र और तरुणी के उन्नत उरोजों को रूपहला, वादीला, पुष्ट, सुनहरा, मंगल कलश जैसा कहता है ।

२. मिलाइये—

गहिरणाहिराय रोमावलियाहि
तोच्छोयर सोहंतहि तिवलियाहि ।

—धम्म परिवक्खा ४ २३.५

३. मिलाइये—

हरिण-सरिस्सा णअणा, कमल-सरिस्सा वअणा ।
जुवजण-चित्ताहरिणी, पियसहि ! दिट्ठा तरुणी ॥

—बम्बर कवि

- „ ४२. ते पुण्—तुटी एक आवलि
—विवाहि करी सोहीका पावइ ॥
ज वाघ ताह काम्बदेवह मालवानु जइसी भावइ
पाकहि रितुफल जिआ जे लोकहि लाछिहि करउ
निवासु भलि उपरि.....व दुलाहं ऊजला/
- „ ४३. /करी.....तेहर सवह वेसह
करीज लाछिस अवहरी
कोपडहिर करउ ज गोरी
तहि सिद्धर वेसुज सांगवली
तहिर पाटणिइ करउ
(मं.....ढ) कोस सो भंवर/*
- „ ४४. /.....छाया ते इं पर लाधी ।
जहि आवति(....) अयणुइ डि अर अति सुठु खाधी ॥
तुम्हइ.....लं.....तुम्हहि
सरिसउ बोलहि को जूझइ ।
- „ ४५./.....(इवानइ) जोवथु
काजुड माथु बूझइ ॥
एह इसी सुवेसुजहि
आविउ पइ सइ ।
.....(सो घरउ)राउल बूचइ ॥
अउ माणउ को.....महु.....
- „ ४६. /.....॥ रोडे राउलवेल बखानउ ।
(सकल) भासह जइसी जाणउ ॥

□

*उपर्युक्त मूलपाठ की ४३वीं पंक्ति के अन्तिम शब्द—‘कोस सो भंवर’ के नीचे, मालेख में दाहिनी ओर पंक्ति-४४, ४५, ४६ समाप्त हो गई है और वहां ‘कदलीवन’ केरा हुआ है जो लेख समाप्ति का सूचक है ।

प्रस्तुत मूलपाठ से यह भी स्पष्ट है कि श्रीमान् माताप्रसादजी गुप्त का यह कयास गलत है कि इस शिलालेख की भाषा पुरानी कोसली है। उनका यह कथन भी पूरी तरह भ्रांतिपूर्ण है कि इस लेख में गोदावरी प्रदेश के गोतलों, कर्णाटक के कानोडों, तिलगाना के टेल्लों, उड़ीसा के ओडों और बंगाल के गौडों का वर्णन है।

इसी प्रकार माननीय हरिवल्लभजी भायाणी का यह मानना भी सही नहीं है कि इसमें आठहं भासह—किन्हीं आठ भाषाओं का काव्य निबद्ध था। यह लेख पूर्ण है; किन्तु खण्डित और घिसा पिटा है। भाषा की दृष्टि से यह (मुल्तान से दमोह और काठियावाड़ से मालवा-मेवाड़ की बोलचाल की) देशी भाषा में निबद्ध है जिसकी परंपरा बात—साहित्य में २०वीं सदी विक्रमी तक अक्षुण्ण रही है और हस्तलिखित बात साहित्य और शिलालेखों में सुरक्षित भी है।

शिलालेख में कवि, संभवतः उज्जैन में, एकत्र जनसमूह में पांच तरुणियों को देखकर उनका हावभाव और नखशिख वर्णन कर रहा है और मालवीय की अधिक सराहना कर रहा है। पहले वर्णन (नं. १) में भी कवि मालवीय तरुणी को अनुराग भरा पुष्प कहता है जो बिना आभूषणों के ही उसे मुग्ध कर देता है।

दूसरी तरुणी—काछड़ी राउल भी विअइलफूल है किन्तु वह ऊंचे देश की है और उसकी आंखें गंवारू हैं। तीसरी कानोडइ राउल भी पागल बना देने वाली है और उसके किसी घर में जाने से वह घर भी सुन्दर बनने वाला है किन्तु टक्किणी को बहुत सराहना करके भी वह पसंद नहीं कर पाता। पांचवीं राउल गडड़ि है जो अपने देश में किसी भी घर के मुखिया—बंडीरो द्वारा निस्संदेह पसंद की जाएगी। क्योंकि उसके स्तन नदी जल में डूबे चाडा (छोटी मटकी) जैसे हैं। उसकी रोमावली गंगा-यमुना वर्णी है और उसने परंपरागत सफेद कपड़ा (धवलर कापड़) ओढ रखा है। अर्थात् शर्माली है। इसलिए कोई चाहे जो कुछ कहे घर का मुखिया उसे अपने घर की भउही बना लेगा।

इस प्रकार ऊहापोह करके कवि मालवीय-तरुणी का विस्तार से रूप वर्णन करता है। इस प्रसंग में (पंक्ति ४०) रोबेराउ कामदेव को उपालभ देने से भी नहीं चूकता। वह उससे विवाह कर उसे लोक लक्ष्मी की तरह सजाये रखना चाहता है।

वस्तुतः 'राउरवेल' की भाषा और वर्णन पर पुनः समीक्षा करने की अपेक्षा है।

—(परमेश्वर सोलंकी)

संपादक, तुलसी प्रज्ञा

जैन विश्व भारती संस्थान

लाडनू-३४१३०६

तुलसी प्रज्ञा

राजस्थानी कहावतें—एक संक्षिप्त संकलन

स्व० मुनि हड़मानमल, सरदारशहर

राजस्थानी कहावतों पर पिछले वर्षों में स्व० डॉ० कन्हैयालाल 'सहल', पिलानी और स्व० पं० मुरलीधर व्यास, बीकानेर आदि ने अतीव महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किया था। सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर से राजस्थानी कहावतें—शीर्षक से दो भागों में, एक प्रकाशन भी हुआ था। इन पक्तियों को लेखक ने भी 'राजस्थानी किसान का वर्षा विज्ञान'—शीर्षक से संबंधित कहावतों का एक लघु संग्रह (सन् १९५६ में) प्रकाशित किया था।

यह विषय इतना विस्तृत और व्यापक है कि इस पर बहुत अधिक कार्य करने की अपेक्षा है। स्व० मुनि हड़मानमलजी, सरदारशहर ने अकारादि क्रम से ७३५ कहावतों का संग्रह किया है। यह संग्रह संख्या की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता और इसमें संग्रहीत अधिकांश कहावतें चिरपरिचित और लोकरूढ़ भी हैं किन्तु इनका संग्रह जनसाधारण से—दैनंदिन व्यवहार में किए जाने वाले प्रयोगों से हुआ है; अतः ये विचारोत्तेजक हैं और पाठकों के लिए हचि का विषय हो सकती हैं।

इन कहावतों को बिना किसी भी प्रकार के परिष्कार या संशोधन के ज्यों की त्यों प्रकाशित किया जा रहा है।

—संपादक

अ

१. अंधा धुंध की साहवी घटा टोप को राज।
२. अक्कल उधारी कोनी मिले।
३. अक्कल कोई के बाप की कोनी।
४. अक्कल बड़ी भैंस।
५. अक्कल बिना ऊंट उभाणा फिरै।
६. अक्कल से खुदा पिछाणो।
७. अगम बुद्धि वाणियो पिछम बुद्धि जाट तुक बुद्धि तुरकड़ो बामण सम्पट पाट।
८. अण मांग्या मोती मिले मांगी मिले न भीख।
९. अण समझ को कुछ नहीं समझदार की मोत।
१०. अघ पढी विद्या धुवै चिंता धुवै शरीर।

११. अनहोनी होवै नही होणी होय सो होय ।
१२. अनियो नाचे अनियो कूद ।
१३. अवतो तनै कैगो जिकोई मन्नी कहेगी ।
१४. अभागियो टावर त्युंहारनै रूसै ।
१५. अमरो तो मै मरतो देख्यो भाजत देख्यो सूरु ।
१६. अम्मर को तारो हाथ सै कोनी टूटै ।
१७. अय्यां ही रांडा रोला करसी पावणां यहां ही जीमसी ।
१८. अरडावतां ऊंट लदै ।

आ

१९. आंख कान को चार आंगल को फरख है ।
२०. आंख गई संसार गयो कान गया हुंकार गयो ।
२१. आंख फुडाई मूंड मुंडायो घर को फेरो द्वार ।
२२. दोन्यु बोईरे बूबना आदेस ने जुहार ।
२३. अखार तो कोनी ठांडा करदी ।
२४. आंख्यां देखी परसराम कदै न भूठी होय ।
२५. आंख्यां मै गीड पडै, नांव मिरमानेणी ।
२६. आंख्यां सै आंधो नांव नैणसुख ।
२७. अंगुल्या सूं नूं परैकोनी हुवै ।
२८. आंट मे आयोडो ली टूटै ।
२९. आं तिलां मे तेल कोनी ।
३०. आंधा की गफ्फी बहरां को बटको राम छुडावे तो छुटै नहिसिर ही पटको ।
३१. आंधा की माखी राम उडावै ।
३२. आंधा नै तो लाठी छावै ।
३३. आंधा पीसे कुत्ता खाय ।
३४. आंधा में काणौ राव ।
३५. आंधै की भैस बरू में चरै ।
३६. आंधे के जाणे सावन की बहार ।
३७. आई ही छाय नै घर की धिराणी वण बैठी ।
३८. आक को कीडो आक में ढाक को कीडो ढाक में ।
३९. आक में ईख फोग में जीरो ।
४०. आक सीचै पण पीपल कोनी सीचै ।
४१. आकाश में बिजली चमके गधेडो लात मारै ।
४२. आगली दाल नैई पाणी कोनी ।
४३. आज ही मोडियो मूंड मुंडायो आज ओला पडा ।
४४. आंटी कांटी घी घडो, खुलै केसां नार । बावो भलो दाहिणो लाली जरख सुनार ।

४५. आठ पूरबिया नो चूल्हा ।
 ४६. अण गांव को वींद गांव को छोरो ।
 ४७. आधा में देई देवता, आधा में खेतर पाल ।
 ४८. आधो घाल्यो उंखली आधो घाल्यो छाज सांगर साथे धण गई मधरो-२ गाज ।
 ४९. आप आपकी रोटयां नीचै आंच देवै ।
 ५०. आप कमाया कामडा दई न दीजै दोस ।
 ५१. आपकी एक फूटी को दुःख कोनी पडोसी की दो फूटी चाये ।
 ५२. आपकी गनी में कुत्तो शेर ।
 ५३. आपकी जांघ उघाडयां आप ही लाजां मरै ।
 ५४. आपकी पराई पराई आपकी ।
 ५५. आपकी मां नै डाकण कुण बतावै ।
 ५६. आपकै लागै हींक में दूसरै के लागै भीत में ।
 ५७. आपको टको टको दूसरै टुकलडी ।
 ५८. आप गुरुजी कातरा मारै चेलां नै परमोद सिखावे ।
 ५९. आप हुबंतो पांडियो लेडूब्यो जजमान ।
 ६०. आपने उपजै कोनी दूसरां की मानै कोनी ।
 ६१. आप भलो तो जग भलो ।
 ६२. आपमें अकल घणी दीखै दूसरे कनै धन घणो दीसे ।
 ६३. आबरू लैर उधार हे ।
 ६४. आम कै अणीना वेश्या के घणीना ।
 ६५. आभा राता मेह माता आभा पीला मे सीला ।
 ६६. आम खाणा क पेड गिणना ।
 ६७. आम नीबू बाणियो कंठ भीच्यां जाणियो ।
 ६८. आम फलै नीचो नावै अरंड आकासां जाय ।
 ६९. आरे मेरा सम्पट पाट में तने चाटूं तूं मनै चाट ।
 ७०. आरे राडया राड करां ठालां बैठा के करया ।
 ७१. आवो मियां खाणा खावो विसमल्ला भट हाथ घोवाओ आवो मीयां धाण उठावो
 हम बूढ़ा कोई जवान बुलाओ काम करन को आलसी भोजन को हुशियार ।

इ

७२. इज्जत भरम की कमाई करम की ।
 ७३. इन्दर की मां भी तिसाई रही ।
 ७४. इनै पडै तो कुवो इनै पडै तो खाड ।
 ७५. इमरत तो रती ही चोखा भैर नण भी के कामको ।
 ७६. इसी खाट इस्या ही पाया इसी रांड इस्या ही जाया इसो ही हरि गुण गायो
 इसोई संख बजायो ।
 ७७. इसी खेण का इसा ही हीरा इसी भण का इसा वीरा ।

ई

७८. ई की मां तो इनै ही जायो ।

उ

७९. उघाडै बारणे धाड नहीं उजाड गांव में राड नहीं ।

८०. उणी गांव में पीर उणी में सासरो आथण की दिसी खेत चुबै नह आसरो
नाडी खेत नजीक उठै हल खोलणा एता दे करतार फँर नहीं बोलणा ।

८१. उलटो चोर कोतवाल नै डंडै ।

८२. उंखली में सिर दे जिको धमकां सै के डरै ।

८३. उंघै ही अर बिछायो लाध्यो ।

ऊ

८४. ऊंट के मुं मै जीरै सें के हुवै ।

८५. ऊंट चढ्या ने कुत्तो खाय ।

८६. ऊत गये की चिट्ठी आई बाचै जीनै राम दुहाई ।

८७. ऊपर बागा घर में नागा ।

ए

८८. एक आंख को कै मीचै के खोलै ।

८९. एक घर तो डाकण ही टालो है ।

९०. एक नन्नो सो दुःख हरै ।

९१. एक पैडे चाली कोन्या रे बाबा तिसाई ।

९२. एक बांदरी कै रस्यां कै अयोध्या खाली हो ज्यासी ।

९३. एक हाथ से ताली कोनी बाजै ।

ऐ

९४. ऐरण की चोरी करी करयो सूई को दान ऊपर चढ़कर देखण लागी कद
आवै बिमाण ।

९५. ऐसा को तेसा मिल्या बामण को नाई वो दिनी आसका वो आरसी दिखाई ।

ओ

९६. ओई पूत पटेला मे ओई गोबर भारा में ।

९७. आक्यां को टाबर ? खाय बराबर ।

९८. ओछा की प्रीत कटारी को मरण ।

९९. ओछी पूंजी धणी ने खाय ।

१००. ओछी पोटी में मोटी बात कोनी खटावै ।

१०१. ओछे की प्रीत बैलू की सी भीत ।

१०२. ओछो बोरो, गोद को छोरो, विना मुरै की सांड, ताते की रांड कदेई न्हाल
कोनी करै ।

१०३. ओसां से घडियो कोनी भरै ।

१०४. ओही काल को पडवो ओही बाप को मरवो ।

क

१०५. क कै को आंकई कोनी आवै अर नाम विद्याधर ।
 १०६. करै तो काऊ का सीखे तो नाऊ का ।
 १०७. कठै राजा भोज कठै गांगलो तेली ।
 १०८. कठै राम राम कठै ट्रां ट्रां ।
 १०९. कदै घी घणा कदै मूठी चणा ।
 ११०. कदै नाव गाडी पर कदै गाडी नाव पर ।
 १११. कनफडा दोनूं दीन बिगाड्या ।
 ११२. कपडा फाट गरीबी आई जूती टूटी चाल गमाई ।
 ११३. कपूत जायो भलो न आयो ।
 ११४. कवित सीहे भाट ने खेती सीहे जाट नें ।
 ११५. कबूतर ने कुवो ही दीखे हैं ।
 ११६. कम खा लेणा पण कम कायदे नहीं रहणा ।
 ११७. कमजोर की लुगाई सबकी भोजाई ।
 ११८. कमावै थोडो खरचै घणो पेलो मूखं उणने गिणू ।
 ११९. कमेडी बाज ने कोनी जीतै ।
 १२०. करडी बाधै पागडी घुरड लिवारै नख । करडी पहुरै मोचडीं अण सरज्या
 ही दुःख ।
 १२१. करन्ता सो भोगंता खोदंता सो पडंता ।
 १२२. करम कमेडी सो मन राजा को सो ।
 १२३. करमहीन खेती करै कै काल पडै के बलद मरे ।
 १२४. करम में लेख्या कंकर तो के करै शिवशंकर ।
 १२५. कल सूं कल दबै ।
 १२६. कसम मरे को धोखो कोनी सुंपनू साचो होणो चावे ।
 १२७. कसाई के दाणै ने बकरी थोड़ी ही खाय जाय ।
 १२८. कांट कंटीली भाखडी लागै मीठा बोर ।
 १२९. कांटे से कांटो नीसरै ।
 १३०. कादां खाया कमधजां घी खायो गोला चुरु चाली ठाकरां बाजंतै ढोला ।
 १३१. कांधे पर छोरो गांव में बिढोरो ।
 १३२. काग कुहाडो कुटिल नर काटै हि काटै सुई सुहागो सत् पुरुष सांठै ही सांठै ।
 १३३. काग पढ़ायो पीजरै पढ़गो चारू वेद समभायो समझै नहीं रह्यो ढेढ़ को ढेढ़ ।
 १३४. कागला के सराप सूं ऊंट कोनी मरै ।
 १३५. कागलो हंस हाली सीखै हो सो आप हाली भूलगो ।
 १३६. कागा कुत्ता कुमाणसा तीन्यू एक निकास ज्यां ज्यां सेरयां संचरै त्यां त्यां
 करै विनाश ।
 १३७. कागा हंस न गधा जती ।
 १३८. काचो दूध खटाई फाडै तातो दूद जमावै ।

१३९. काठ की हांडी दूसरा कोनी चढ़े ।
 १४०. काठ डुबे लोडा तिरै ।
 १४१. काणती भाभी छाछ घाल घालस्यूं दही सू सु प्यार ।
 १४२. काणी को काजल भी कोनी मुहावै ।
 १४३. काणी छोरी तनै कुण व्यावेगो ना मैं मेरे भाया नै खीलाकंगी ।
 १४४. काणू खोडो खायरो ऐ चाताणू होय इणनै जदहि छोडियै हाथे घसेलो होय ।
 १४५. कात्या जी का सूत जाया जी का पूत ।
 १४६. कातिक की छांट बुरी बाणियां की नांट बुरी भाया की आंट बुरी ।
 १४७. काती कुती माह बिलाई फागण मर्द अर ब्याह लुगाई ।
 १४८. काती सब साथी ।
 १४९. कान में किटी क अंतर लगा स्यूं ।
 १५०. काम करै कोई मौज उडावै कोई ।
 १५१. काल कुसुम ना मरै बामण बकरी अंट बो मांगै वा चरै बो सूखा चाबे ठूठ ।
 १५२. काल मरी सासू आज आयो आंसू ।
 १५३. कालै के कालो नहीं जाँमै तो कोझालो तो जरूर जाँमै ।
 १५४. कालो आँक भैस बराबर ।
 १५५. कि मैं गुड गीलो कि मैं बाणियो ढीलो ।
 १५६. कृपण के दालिदर नही नही सूर्य के सीस दाता रां के धन नही ना कायर के रीस ।
 १५७. किसन करै सो लीला म्हें बाजा लंगवाडा ।
 १५८. कीडी सींचै तीतर खाय पापीको धन परलै जाय ।
 १५९. कुत्ती ब्यू धूसै है कै टुकड़ै खातर ।
 १६०. कुत्तै की पूँछ बारा वर्ष दबी रही पण जद निकली जद टेढी की टेढी ।
 १६१. कुमाणस आयो भलो न जायो ।
 १६२. कुल बिना लाजना जूं बिना खाजना ।
 १६३. कूण किसी के आवे दाणू पाणी जावे ।
 १६४. कूदियै ना कूवै खेलियै ना जुवै ।
 १६५. कूदो पेड खजूर सू राम करै सो होय ।
 १६६. के गीतडा के भीतडा ।
 १६७. के तो फूहड चालै कोनी र चालै जद नो गांव की सीमा फाडै ।
 १६८. कै नागी धोबे र के नागी निचोवे ।
 १६९. के फूंक सै पहाड उडै हैं ।
 १७०. कै बाड पर सोनूं सूकै है ।
 १७१. कै बेटी जेठ कै सहारै जाई है ।
 १७२. कै मीयां मरगा के रोजा घटगा ।
 १७३. के सोवे बंबी को साँप कै सोवे जी के मांय न बाप ।
 १७४. कै जागै जै कै घर में साँप कै जागै बेटी को बाप ।

१७५. कै हंसा मोती चूरी कै लंघन कर ज्याय ।
 १७६. कोई को हाथ चालै कोई की जीभ चालै ।
 १७७. कोयला की दलाली में काला हाथ ।
 १७८. क्यूं आंध्रो नूतं क्यूं दो जिमावै ।

ख

१७९. खल गुड एकै भाव ।
 १८०. खांड गली का सै सिरी रोग गली का कोई नहीं ।
 १८१. खाज पर आंगली सीधी जाय ।
 १८२. खाबो खीर को बाबो तीर को ।
 १८३. खाणो सीरा को और मिलणो बीरा को ।
 १८४. खाली लल्लोई सीखो है ददो नी सीखो ।
 १८५. खुली किवाड पोल घरी ।
 १८६. खेत नै खोवे गेली मोडा ने खोवे चेली ।
 १८७. खोटो पीसो खोटो बेटो ओडी वर को माल ।
 १८८. खोयो ऊंट घडा में ढूँँ ।

ग

१८९. गंजो नाई कौ के धरावै ।
 १९०. गंडक नै देखकर गंडक रोवै ।
 १९१. गट मण मण माला फैरे तिलक करै सिद्धा का ऐ चोरी छिप कर सीटा तीडे नीचे खोज गधा का ।
 १९२. गढ़ बैरी अर के हरी सगो जवाई धी इतना तो अलगा भला जद सुख पावे जी ।
 १९३. गधा नै धी दियो तो कै आंख फोडे है ।
 १९४. गधा नै नुहांया थोडो थोडो ई हो जाय ।
 १९५. गधेडो कुरडी पर रंजी ।
 १९६. गधै में ज्ञान नहीं मूसल कै म्यान नहीं ।
 १९७. गरु की चोट विद्या की पोट ।
 १९८. गांव गयो सूत्यो जागे ।
 १९९. गांव बलै डूम त्यूवांरी मांगे ।
 २००. गांव बसायो बाणियो पार पडै जद जाणियो ।
 २०१. गाजर की पूंगी बाजी तो बाजी नहीं तो तोड खाई ।
 २०२. गाडा को फाचरो र लुगाई रो चाचरो कूटोडो ही आछो ।
 २०३. गाडा टलो हाडा नहीं ठलो ।
 २०४. गाडा में छाजला को के भार ।
 २०५. गाडिये लुहार को कुण सो गांव ।
 २०६. गाडी सै र लाडी सै बचकर रैणु ।
 २०७. गादड मारी पालकी में धडूक्या हालसी ।

२०८. गादडै की मोत आवै तो गांव कानी भजे ।
 २०९. गादडै के मूडै न्याय ।
 २१०. गावणू अर रोवणू सैने आवे हैं ।
 २११. गीत में गाण जोगो ना रोज में रोवण जोगो ना ।
 २१२. गुड घालौ जितणो ही मीठो ।
 २१३. गुड डलियां घी आंगलियां ।
 २१४. गुड तो अघेरे में बी मीठी ।
 २१५. गुड देतां मरै बीनै भैर क्यूं देणू ।
 २१६. गुण बिना किसी चोथ ।
 २१७. गुलगुला भावै पण तेल कठा सूं ल्यांवू ।
 २१८. गोरी में गुण होयो तो ढोलो आपै ही आमिलेगो ।
 २१९. गौलै को गुरु जूत ।

घ

२२०. घडी को ठिकाणो नहीं नाम अमरचन्द ।
 २२१. घणा बूठां कण हाण ।
 २२२. घणा मीठा में कीडा पडै ।
 २२३. घणा हेत टूटणा का बडा नेण फूटण का ।
 २२४. घणी तीन पांच आछी कोनी ।
 २२५. घणी सराही खीचडी दांतां के चिपै ।
 २२६. घणी सूधी छिपकली चुगर जिनावर खाय ।
 २२७. घणू खाय ज्यूं घणू मरै ।
 २२८. घणू बल भरयां काली कामल कुत्ता घणा दे कुण आवे चार घूडी पडै
 २२९. घर का टाबर खीर खाय, देवता भलो मानै ।
 २३०. घर की खांड किरकिरी गुड चोरी को मीठो ।
 २३१. घर को देव र घर पुजारा ।
 २३२. घर घर मांटी का चूला ।
 २३३. घर जाये का दिन गिणू के दांत ।
 २३४. घरै घाणी तेली लूखो क्यूं खावै ।
 २३५. धूरी में गादडो ई सेर ।
 २३६. घूस चालती तो बाणियो घरम राज ने भी घूस दे देतो ।
 २३७. घूमटा से सती नहीं मुडायो से जती नहीं ।
 २३८. घोडो चाये निकासी नै, बावड तो सो आए ।
 २३९. घोडो मर्द मकोडो पकडां पाछै छोडै थोडो ।

च

२४०. चक्कू खरबुजे पर पडै तो खरबुजे को नास खरबुजे चक्कू पर पडै तो ही
 खरबुजे का नाश ।

२४१. चांचवेई जठे चुगो भी त्यार है ।
 २४२. चाए जितना पालो पांख ऊगता ही ऊड जासी ।
 २४३. चाकरी से सू आकरी ।
 २४४. चाकी में पड कर साप तो कोनी नीसरै ।
 २४५. चालणी में दूदवै करमां नै दोष देवै ।
 २४६. चिडपिडै सुहाग सू रंडापोही चोखो ।
 २४७. चिडी की चोंच में सोमण को लकडो ।
 २४८. चीकणो घडै पर बूंद न लागे जे लागे तो चीडो ।
 २४९. चुस्सी को सिकार और ग्यारा तोप ।
 २५०. चूसै के बिल में ऊंट कैया समावै ।
 २५१. चोर की मां घडै में मुंह देकर रोवे ।
 २५२. चोर के छाती है पण पण कोनी ।
 २५३. चोर ने कहै लाग साह ने कहै जाग ।
 २५४. चोर ने के मारै चोर की मां नै मारै ।
 २५५. चोरी को धन मोरी में जाय ।
 २५६. चौमासी को गोबर लीपण को न थापण को ।
 २५७. चार चोर चोरासी बाणिया के करै बापडा एकला बाणियां ।
 २५८. च्यार दिना की चानणी फेर अंधेरी रात ।

छ

२५९. छीकत खाये छीकत पीये छीकत रहियै सोय छीकत पर घर कदे न जाए
 आछी कदे न होय ।
 २६०. छोरो बगल में ढूढे जंगल में ।

ज

२६१. जठे पडै मूसल उठै ही खेम कुसल ।
 २६२. जबान में ही रस अर जबान में ही विष ।
 २६३. जमीं जोरु जोर की जोर हट्यां ओर की ।
 २६४. जमीन को सोवणियो र भूठ को बोलणियो संकडेलो क्यूं भुगते ।
 २६५. जलम को आंधो नाम नैण सुख ।
 २६६. जलम को दुखधरो नाम सदासुख ।
 २६७. जहर खाय गो सो मरे गो ।
 २६८. जहर ने जहर मारे ।
 २६९. जांका मरग्या बादशाह रुलता फिरै बजीर ।
 २७०. जाट जंगल मत छेडिये हाटां बीच किराड ।
 रघंड कदे न छेडिये जद तद करै बिगाड ।
 २७१. जाट जवाईं भाणजो रंबारी सूनार, कदैन न होसी आपणा कर देखो ब्योहार ।
 २७२. जाट डूबै धोली धार बाणियो डूबै काली धार ।
 २७३. जाटणी की छोरी र फलकै बिना दोरी ।
 २७४. जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट मीयां रे मीयां तेरे सिर पर कोल्हु कह तुक

तो मिली नां कह बोझा तो मरेगो ।

२७५. जाते चोर का झूटा ही चोखा ।

२७६. जावो लाख रहो साख ।

२७७. जिकी गांव नहि जाणूं वुं को गैलो ही क्यूं पुछणूं ।

२७८. जीण का पडगां सुभावक जासी जीव सूं नीम न मीठो होय शीसो गुड धीव सूं ।

२७९. जीकी खाई बाजरी उंकी भरी हाजरी ।

२८०. जीको बाप बीजली से मरै वो कडकै सै के डरै ।

२८१-२८२. जीव तडान हि दान मरयां नै पकवान -- जीवत पिता की करी न सेवा
मरयां पाछै लाडू मेवा जीवत कीता की पूछी न बात मरयां पाछै चावल भात
जीवत पिता कै रह्यो न नेडो मरीया पाछै दीनों हेडो जीवत किता सू जंगम
जंगा मरै पिता पहुंचावै गंगा ।

२८३. जीवता लाख का, मरया सवा लाख का ।

२८४. जीवती माखी कोनी गिटी जाय ।

२८५. जूती चालेगी कतीक, कह बीमारी जाणियै ।

२८६. जे टूटा तो टोडा ।

२८७. जेठजी की पोल में जेठजी ही पोडै ।

२८८. जेठा बेटा र जेठा बाजरा राम दे तो पावे ।

२८९. जेवडी बलज्या पण बल कोनी जावै ।

२९०. जैकी टाट, जैकी मोगरी जीका सिर जिंकां जूता ।

२९१. जौ धन दीखै जावतो, आधो दीजै बांट ।

२९२. जौ बाणया तेरे पडगयो टोटो बडज्या घी का कोटा में खीर खांड का भोजन
कर ले यो भी टोटो टोटा में ।

२९३. ज्यादा लाड से टाबर बिगडै ।

२९४. ज्यूं ज्यूं बडो हुवै ज्यूं ज्यूं पत्थर पडै है ।

२९५. ज्वर जाचक अर पावणा चौथो मांगण हार लाघण तीन करायदे कदै न
आसी द्वार ।

भ

२९६. भूखत विधा पचत खेती ।

२९७. भूठ बिना भूगडो नहीं धूल बिना घडो नहीं ।

२९८. भूठ की के पीछाण, कैवो सोगन खाय ।

ट

२९९. टका दाई लेगी उर कुंडो फोडगी ।

३००. टकै की हांडी फूटी गंडक की जात पिछाणी ।

३०१. टको टुसी एक न यार तोरण मारण होगयो त्यार ।

३०२. टक्को लागयो न पातडी, घर में भू दडक दे आवडी ।

३०३. टांडो क्यूं हो ? कै सांड हां ! गोबर क्यूं करो ? कै गउ का जाया हां !

३०४. टाबर है पण बडा का कान कतरै ।

३०५. टाबरा की टोली बुरी घर में नार बोली बुरी ।
 ३०६. टुकड़ा दे दे बछड़ा पाल्या, सींग हुआ जद मारण चाल्या ।
 ३०७. टूट गई डाली उड गयो मोर धी मरी जंवाई चोर ।
 ३०८. टूटतै आकाश कै बलो कोनी लागे ।
 ३०९. टूटी की बूटी कोनी ।
 ३१०. टूटी नाड बुढ़ापो आयो टूटी खाट दलिहर छायो ।

ठ

३११. ठठैरै की बिल्ली खुडकां से कोनी डरै ।
 ३१२. ठाकुर आयाए ठुकरानी चुलै आग न पंडै पानी ।
 ३१३. ठाकर तो कूलै मांडोडोवी बुरा ।
 ३१४. ठाकरां घोला आयगा और भागो हो कह भाग भाग कर तो घोला लिया
 है नहीं तो काणा ने हि ता काला में ही मार गेरता ।
 ३१५. ठाडै को डोको डोंग नै फाडै ।

ड

३१६. डाकण अर जरख चढ़ी ।
 ३१७. डाकण बेटा ले क दे ।
 ३१८. डाकणा के ब्यांवा में नूता रां गटका ।
 ३१९. डिगमरां में गांव में धोवी को के काम ।
 ३२०. डूंगरा ने छाया कोनी होय ।

ढ

३२१. ढवां खेती ढवा न्याव ।
 ३२२. ढरयो घाटी हुवो मांटी ।

त

३२३. तरवार को घाव भरज्या बात को कोनी भरै ।
 ३२४. तलै तो हूं पर उपर टांग मेरी है ।
 ३२५. तवै चढ़े नै धाड खाय ।
 ३२६. तातो खानै छाया सोवै बौके वेद बिछोकड रीवे ।
 ३२७. तिरिया चरित न जाणे कोय खसम मार के सती होय ।
 ३२८. तीन बुलाया तेरा आया भई राम की बाणी राधो चैतन यूं कहे छो
 दाल में पाणी ।
 ३२९. तू भी राणी में भी राणी कुण भरे पंडे को पाणी ।
 ३३०. तेरे ल्होडिये ने न्यूते है कह मेरे तो सगला ही ढाई सेरीया है ।
 ३३१. तेल बलै बाती बली, नांव दियो को होय बेटा तो गौरी जणै नाम पिये
 का होय ।
 ३३२. तेली सू खल उतरी हुई बलीते जोग ।

थ

३३३. थोथो चीणो बाजै घणो ।

३३४. थोथो संख पराई फूंक से बाजी ।

द

३३५. दसां डावडो, बीसां वाबलो तीसा तीखो चालिसा चोखो पचांसा पाको
साठो थाको सत्तरा सूलो, अस्सीया लूलो, नब्बीया नागो सोवा तो
भागो ही भागो ।

३३६. दांतला खसम को रोवता को बैरो पटै न हंसता को ।

३३७. दाई से पेट छानो कोनी ।

३३८. दाता से सूम भलो जो जट पर उत्तर दे ।

३३९. दादू दुबारा में कांगसिया को के काम ।

३४०. दादो घी खायो म्हारी हथेली सूंघल्यो ।

३४१. दाणे-दाणे मोर छाप है ।

३४२. दाल भात लम्बा जीकारां ए बाई परताप तुम्हारा ।

३४३. दिन करै सो बेरी कोन्या करे ।

३४४. दिनुगे को भूल्योडो संज्या घरां आजाय तो भूल्योडो कोनी बाजे ।

३४५. दिन दीखै न फूड पीसै ।

३४६. दिलां का दिल साई दार है ।

३४७. दुनिया में दो गरीब है कै बेटी कै गैल ।

३४८. दूजवर की गोरडी हाथां परली मोरडी दग्गड-दग्गड खाऊंगी बोलिगे
तो मारूंगी मर जाऊंगी ।

३४९. दूद दयां का पावणा छाछ ने अलखामणा ।

३५०. दूध पीती बिलाई गंडकडा में जा पडी ।

३५१. दूध हालीरा लात बी सहणी पडै ।

३५२. दूबली पर दोल दे ।

३५३. दूर जंवाई फूल बरोबर, गांव जंवाई आधो, घर जंवाई गर्ध बरोबर
चाये जितणी लादो ।

३५४. देख पराई चोपडी पडमर बेईमान दो घड़ी की सरमा-सरमी आठ
पहर आराम ।

३५५. देखां देखी साधे जोग छीजे काया बाधै रोग ।

३५६. देख्यो नहि जैपरियो कुल में आकर के करियो ।

३५७. देणू अर मरणो बराबर है ।

३५८. देरै पाडां आसीस में कै देऊं मेरी आत्मा ही देसी ।

३५९. दो तो चून का भी बुरा ।

३६०. दोनू हाथ मिलायां ही धुपै ।

३६१. दोय-दोय गयंदन बघसी एकै कंबुठाण ।

३६२. दो लडै जठै एक पडै ।

३६३. दो सावण दो भादवा दो भादवा दो कार्तिक दो मा ढांडी ढोरी बेचकर
नाज बिसाण जा ।

ध

३६४. धन दायजा बहगा, छाती कूठा रहगा ।
 ३६५. धनवंता कांटो लगयो, सहाय करी सब कोय, निरधन पड्यो पहाड़ सूं
 बात न पूछी कोय ।
 ३६६. धरम की जड़ सदा हरी ।
 ३६७. धान पुराणा धृत नया त्यूं कुलवंती नार चौथी पीठ तुरंग की सुरग
 निशानी चार ।
 ३६८. धाया तेरी छाराबडी तेरे गंडकडा से तो राख ।
 ३६९. धायो अमीर, भूखो फकीर, मरयां पाछै पीर ।
 ३७०. धूल खाया किसो पेट भरे ।
 ३७१. धोती में सब उघाड़ा है ।
 ३७२. धोबण से के तेलण घाट वुं के भोगरी इके लाठ ।
 ३७३. धोवी को गधो स्वामी की गाय राजा को नौकर तीनूं गतां सू जाय ।
 ३७४. धोली पर दाग लागी ।

न

३७५. नंदी परलो खूंखड़ो जद कद होत बिणास ।
 ३७६. नई नो दिन पुराणी सो दिन ।
 ३७७. नकटा नाक कटी, कह मेरी तो सवागज वधी ।
 ३७८. नगद नाणा बीन परणै काणा ।
 ३७९. नगरा में तूती की आवाज कुण सुणै ?
 ३८०. नर में नाई आगलो पंखेरू में काग पाणी मांलो काछबो तीनूं दगा बाज ।
 ३८१. नष्ट देव की भ्रष्ट पूजा ।
 ३८२. नांव गंगाधर, न्हावै कोनी उमर भर ।
 ३८३. नांव धापली फिरे टुकड़ा मांगती ।
 ३८४. नांव मोटा घर में टोटा, नाम लिछमीधर कन्ने कोनी छिदाम ही ।
 ३८५. नाम विद्याधर, आवै कोनी कक्को ही ।
 ३८६. नाम हजारीलाल घाटो ग्यार सै को ।
 ३८७. नाई दाई वेद कषाई इण को सूतक कदै न जाई ।
 ३८८. नाई हालो ढोलो बाणियो हालो टक्को ।
 ३८९. नागा को लाय में केबले ।
 ३९०. नागी कै धोवे कै नीचोवे ।
 ३९१. नागी बूचो सै सै ऊंचो ।
 ३९२. नाचण ही लागी जद घूंघट क्यां को ।
 ३९३. नापे सौ गज फाड़ै कोन्याए एक गज ।
 ३९४. नामी चोर मारयो जाए नामी साह कमार खाय ।
 ३९५. नायां की जनेत में सबई ठाकर ।

३९६. नारी नर की खाण ।
 ३९७. नाहर ने रजपूत ने रेकारे री गाल ।
 ३९८. नकासी कै बखत घोडो चार्यँ कै फिरतो सो आजे
 ३९९. नीचो करयो कांधो देखण हालो आंधो ।
 ४००. नीत गोल बरकत न है नेकी बदी साथ चली ।
 ४०१. नेम निमाणा धर्म ठिकाणा ।
 ४०२. नोकर खाय ठोकर ।
 ४०३. नोकर मालिक का हां कवै बौगण का ।
 ४०४. नौ सौ मूसा मारकर बिल्ली गंगाजी चाली ।
 ४०५. न्यारा घरां का न्यारा बारणा ।

प

४०६. पंचा की बात सिर माथे पर नालो अठी करई भवंगो ।
 ४०७. पगा पांगली नाम कुदकी ।
 ४०८. पग कादैं में अर जाजम बीठवादे ।
 ४०९. पगा में लीतरा कंधे पर दुपट्टो ।
 ४१०. पगां सौ गांठ दियोडी हाथा से कोनी खुले ।
 ४११. पराई थाली में घी घणो दीखै ।
 ४१२. पहली पेट पूजा फेर काम दुजा ।
 ४१३. पांच पंच छठो पटवारी, खुलावेश चूसवानारी घिरतो फिरतो दातण
करै जैकां पाप से कीड़ा मरै ।
 ४१४. पांच सातकी लाकड़ी एक जणै को भारो ।
 ४१५. पांचू आंगली एकसी कोनी होय ।
 ४१६. पांचू भाई पांच ठोड मोको आयो एक ठोड ।
 ४१७. पांच उभाणे जायती कोडी धन कंगाल ।
 ४१८. पाणी पीवै छाण सगपण कीजे जाण ।
 ४१९. पानी पाला पातसा उतर सू आवै ।
 ४२०. पाप की पाण आये बिना कोनी रेवै ।
 ४२१. पाप को घडो भर कर फूटै ।
 ४२२. पापी को धन परलै जाय ।
 ४२३. पाव चून चौबारे रखोई ।
 ४२४. पीसैं की खीर है ।
 ४२५. पूत का पग पालणे हीं दिखाने ।
 ४२६. पेट के दर्द को माथा ने कै बेरो ।
 ४२७. पेरण नै घाघरोइ कोन्या नाव सिणगारी ।

फ

४२८. फागण में सी चौगुणौ जे चालेगी बाय ।

४२९. फाटी ने सीमेना हसी ने मनावेना ।
 ४३०. फाटी घाघरी रेशम को नाडो ।
 ४३१. फाडणिये ने सीमाणियो कोनी नावडै ।
 ४३२. फिरै सो चरै बन्ध्यो भूखां मरै ।
 ४३३. फुटां भाग फकीर का भरी चिलम दुल ज्याय ।
 ४३४. फूहड के घर हुई कुंवाडी कुत्ता मिल चाल्या रेवाडी काणे कुत्ते लीन्यासूण
 करातोली पण ढकसी कूण ।

ब

४३५. बंधी भारी लाख की खुल्ली बिखर जाय ।
 ४३६. बंधी मुठी लाख की खुल्ली मुठी राख की ।
 ४३७. बकरी छोड्यो ढाक ऊंट छोड्यो आक ।
 ४३८. बकरी दूध तो दे पण दे मींगणी करके ।
 ४३९. बकरी रोवे जीव नै, कसाई रोवे मांस ने ।
 ४४०. बकरे की मां कद ताई खैर मनावे ।
 ४४१. बगल में सोटो नाम गरीबदास ।
 ४४२. बड़का जीता तो फौज भेली हो ज्याती ।
 ४४३. बडै लोगां के कान होय ।
 ४४४. बडो बडकलू बाणियूं कांसी और कसगर । ताता ही तोडिये ठंडा करै
 बिकार ।
 ४४५. बलद ब्यावे तो कोनी बूढा तो होय ।
 ४४६. बाऊं तीतर बाऊं स्याल बाऊं खर बोली अरराल बाऊं घू घू घमका
 करै तो लंका को राज विभीषण करै ।
 ४४७. बांभडी के जाणे जाणे की पीडा ।
 ४४८. बांध्यां तो बलद इ को रेवे ना ।
 ४४९. बांस चढी नटणी कहै, हुयां न नटियो कोय में नट के नटणी हुई नटे
 सो नटणी होय ।
 ४५०. बाई सोवणी तो घणी ई पण आंख में फूलो ।
 ४५१. बाछडो खूटे के पाण कूद बाजै अबला पण छैर सबला ।
 ४५२. बाजै टाबर खाय बराबर ।
 ४५३. बाजै पर तान आवे, बाड के सहारे दूब बघै ।
 ४५४. बाड खेत ने खाय—राजा डंडे रीत नै रोवे किण ढिग जाय, बाड लगाई
 खेत नै बाड खेत न खाय ।
 ४५५. बाणियूं के तो आट में दे के खाट में दे ।
 ४५६. बाणियो खाट में तो ब्राह्मण ठाठ में ।
 ४५७. बात में हुंकारो फौज में नगारो ।

४५८. बातां रीभे बाणियूं गीतां से रजपूत । बामण रीभे लाडुवा बाकल रीभे भूत ।
४५९. बाद तो रावण काइ कोनी चाल्या ।
४६०. बाप के धन सीत को बेटी ने देसी रीत को ।
४६१. बाप को मारयो मां नै पुकारै पण मां मारे कीनै पुकारे ।
४६२. बाबाजी को बाबा तरकारी को तरकारी ।
४६३. बाबाजी धारा ही चरणों को परसाद है ।
४६४. बाबो आवै न ताली बाजै ।
४६५. बाबो मरयो टीमली जाई रहया तीन का तीन ।
४६६. बाबो सेनै लडै बाबा नै कुण लडै ।
४६७. बाबा सौवै ई घर घर में टांग पसारै ऊं घर में ।
४६८. बामण तो हथलेवो जुडावण को गरजी है ।
४६९. बामण नाई कुकरो जात देख घुरायि कायथ कागौ कुकडो जात देख हरसाय ।
४७०. बामण हाथी चढो भी मांगे ।
४७१. बारली गांव की छोरी लाडू बिना दोरी ।
४७२. बारह बरस सें बांभ व्याई पूत ल्याई पांगलो ।
४७३. बावली '२' भूतां खदेडी ।
४७४. बावलो अर भांग पीली ।
४७५. बिदरा वन में रहसी सो राधे गोविंद कहसी ।
४७६. बिना ताल तमूरो कोनी बाजै ।
४७७. बिना बाप को छोरो बिगडै, बिना माय की छोरी ।
४७८. बिना मन का पावणां यानै घी घालू के तेल ।
४७९. बिना लूण का रांघे साग बिना पेच का बांघे पाग बिना कण्ठ का गाठौ राग न साग न पाप न राग ?
४८०. बिलाई को मन मलाई में ।
४८१. बिल्ली ने कदे मंगल गाता देख्या ना ।
४८२. बीगडोड़ा तीवण कोनी सुधरे ।
४८३. बीन के मुंडै ही लाल पडै जद जनेती के करै ।
४८४. बीन मरो भावै बीनणी बामण को टको त्यार ।
४८५. बेटियां की मां राणी भरै बुढाये पाणी ।
४८६. बेटी रुसै सासरै जावण नै बेटी रुसै न्यारो होणनै ।
४८७. बैठ तो बाणियो अर उठती मालण सस्तो बेचे ।
४८८. बैद की स्त्री किसी रांड होय ना ।
४८९. बैम की दास कोनी ।
४९०. बोखी अर भूगंडा चाबै ।

४९१. बोडा घडा उघाडा पाणी नार सुलखणी कय्या जाणी दाणा चाबै पीसती
चालै पल्ला घिसती ।
४९२. ब्यां बिगाडे दो जणा के मजी के मेह वो पीसो खर्चे नहीं वो दडादड
देह ।
४९३. ब्याया नहीं तो जनेत तो गया हा ।

भ

४९४. भडार हालै कुत्ती कीसी हुई ।
४९५. भगत जगत को ठगत ।
४९६. भड भूजा की छोरी अर केसर का तिलक ।
४९७. भांग मांगै भूंगडा सुलफो मांगे घी दाह मांगी जूतियां खुशी हो तो पी ।
४९८. भाई बडो न भय्यो सबसे बडो रूपयो ।
४९९. भाख पाटी खोल टाटी राम देगो दाल बाटी ।
५००. भागां का बलिया रांधी खीर होगा दलिया ।
५०१. भाठै से भाठो भिड़ा बिजली उठै ।
५०२. भाण कै घर भाई गंडक, सासरै जंवाई गंडक ।
५०३. भाण जाऊ-जाऊ करै ही बीरो लेण ने ही आयगो ।
५०४. भूख न देखे जूठ्या भात ।
५०५. भूखै कै तो थाली में पड़ा ही ईमान आकै ।
५०६. भूखै घर की छोरी अर फलके बिना दोरी ।
५०७. भूखो ठाकर आक चाबै ।
५०८. भूखो धायां पतीजे ।
५०९. भूखो पूछै ज्योतिषी ध्यायो पूछै बंद ।
५१०. भूखो बामण सौवे अर भूखो जाट रोवे ।
५११. भूखो बाणियो हंसै र भूखो रांगड कमर कसै ।
५१२. भूतां कै लाडुआ में इलायची को कै स्वाद ।
५१३. भू परीसा खायगा बिन मारै मर जाएगा ।
५१४. भूख बछेरा, डीकरा नीमडिया परमाण ।
५१५. भूखो बामण भेड खाई आगे खाय तो राम दुहाई ।
५१६. भेड पर ऊन कुण छोड़े ।
५१७. भंस आगे बांसरी तो गोबर कोई नाम ।
५१८. भंस आपको रंग को देखैना, छतने देखकर बिदकै ।
५१९. भंस को पोठो सूकतो सो सूकै ।
५२०. भंस मिडों बाकरो चौथी विघवा नार ए च्याह माड़ा भला मोटा
करै बिगाड़ ।
५२१. भोले ढालै का राम रुखाला ।
५२२. भोलो गजब को गोलो ।
५२३. भोलो मित्र दुश्मन की गरज सारै ।

म

५२४. मंढी एक र मोडा घणा ।
 ५२५. मंहगो रोवै एक बार सीगो रोवे बारबार ।
 ५२६. मकोडो कह मां ? मैं गुड की भेली उठा ल्याउ' कडतु कानी देख ।
 ५२७. मत मरज्यो बालक की मावडी र मत मरज्यो बूढे की जोय ।
 ५२८. मन में भावै मूडो हिलावै ।
 ५२९. मन बिना मेल नहीं, बाड बिना बेल नहीं ।
 ५३०. मरतां किसा गाडा जुपै हैं ।
 ५३१. मरद को जोबन साठ वर्ष को जे घर में होय समाई नार को जोबन तीस
 वर्ष हर बैल को जोबन ढाई वर्ष ।
 ५३२. मरद तो जवान बंकी कूख बंकी गोरिया सुहल तो दुघार बंकी तेज
 बंकी घोड़ियां ।
 ५३३. मरे पूत की आंख कचौले जैसी ।
 ५३४. मांग्यां तो मौतई कोनी आवै मिलै ।
 ५३५. मांग्यो आवै माल जांके कांई कमी रे लाल ।
 ५३६. मानका को मुठी भुंगडा ही घणा—मान बडा के दान ।
 ५३७. मा, न मा, को जायो देसडलो परायो ।
 ५३८. माने तो देव नहीं भीत को लेव ।
 ५३९. मा बाप मरग्या अई घर की करग्या ।
 ५४०. मा मरी आधी रात, बाप मरयो प्रभात ।
 ५४१. मामा को ब्याह अर मा परोसकारी ।
 ५४२. मा ! मामा किसाक ? बेटा मेराई भाई ।
 ५४३. माया मिलगी सूमनै ना खरचै न खाय ।
 ५४४. मार के आगे भूत भागे ।
 ५४५. मारणो उंदरो खोदणो डूंगर ।
 ५४६. मिनख को के बड़ो पीसो बड़ो है ।
 ५४७. मिनख हजार वर्ष की नांव बांधे भरसो पलक कोई कोन्या ।
 ५४८. मियां की दौड महजीत ताई ।
 ५४९. मियां ने सलाम की खातर क्यूं रुसायो ।
 ५५०. मिया रोवो क्यूं कै बंदाकी सकल ही इसी है ।
 ५५१. मियां बीबी दो जणा क्यूं खावै वै जौ चणा ।
 ५५२. मिलै मुफ्त रो माल सांड रेवै सोरो ।
 ५५३. मीढका नै तिरणूं कुण सिखावै ।
 ५५४. मुंह टोकसी सो नांव सरुपली ।
 ५५५. मुंह सुई सो पेट कुई सो ।
 ५५६. मुंह सो निकल ज्याय सो भाग धणी का ।

५५७. मुकदमा में दो चाये कोडा '२' गोडा ।
 ५५८. मुख में राम बगल में छूरी ।
 ५५९. मुर्गा के तो ताकु कोई डाम ।
 ५६०. मुतलब को संसार सनेही ।
 ५६१. मुतलब बणतां लोक हंसै तो हंसवा दो ।
 ५६२. मुरदां के साथ कांधियां कोनी बलै ।
 ५६३. मुरदै पर चाहै एक कस्सी गेरो चाहै सो कस्सी गेरो ।
 ५६४. मूंग मोठ में कुण सो बड़ो अर कुण सो छोटो ।
 ५६५. मूछां उंखाडा सै मुरदा हलका थोडा हो छै ।
 ५६६. मूखों का माल मसकरा खाय ।
 ५६७. मूरख के माथै सींग कोनी होय ।
 ५६८. मूरक नै टक्को दे देणुं अक्कल नहि देणी ।
 ५६९. मूरख सै काम पडै जद कै करणू चूप रह ज्याणू ।
 ५७०. मूल सै व्याज प्यारो ।
 ५७१. मेरे लला के कुण कुण यार ? धोबी छीपी अर मणियार ।
 ५७२. मेरे छोटक्यां नै न्यूत चाहे बडोडा न्यूत सै ढाई सेरया है ।
 ५७३. मेरो मूंड मेरी ई मोगरी ।
 ५७४. मेरी मियूं घर नहीं मुझे किसी का डर नहि ।
 ५७५. मेहां की माया बिरखां की छाया ।
 ५७६. मैं बी राणी तू भी राणी कुण भरै पैंडो को पाणी ।
 ५७७. मैं मरूं मेरी आई तूं क्यूं मरै पराई जाई ।
 ५७८. मोडा करै मलार पराये घरां पर ।
 ५७९. मोत्त मानगी मामलो मंदी मांगण हार पांचू मम्मा एकसा पत राखै करतार ।
 ५८०. मोत हरावै, भूख निवावै ।
 ५८१. मोर नाचैई नाचे पण आपका पगां कानी देखकर रोवै ।
 ५८२. म्हाने इमरत लागै राबड़ी जीमे दांत हालै न जाबड़ी ।
 ५८३. म्हारी ई बिल्ली म्हानै ई म्याऊं ।
 ५८४. म्हारे से आगल्याई नाम धरोवै सुन्दर ।
 ५८५. म्है नानासा थे धींगांसा म्है करी मस्करी थे रो दिया ।
 ५८६. म्याऊं को मूंडो कुण पकडै ।

र

५८७. रंक रीझै तो रो दे ।
 ५८८. रजपूती घोरां में रलगी ऊपर चढ़ गई रेत ।
 ५८९. रमता राम बैठया सो मुकाम ।
 ५९०. रलाया हाथ धुपै ।

५९१. रांड स्याणी तो होवै पण होवै खसम मरयां ।
 ५९२. राई का भाव रात ही गया ।
 ५९३. राजा के सोने का पागड़ा ? कह आज कै दिन तो भलां ई गुड़ का कराल्यो ।
 ५९४. राड करै सो बोलै आगे ।
 ५९५. राड को घर हांसी रोग को घर खांसी ।
 ५९६. रात चानणी बात आख्यां देखी मानणी ।
 ५९७. रात बी खोई जगात भी दी ।
 ५९८. राबड़ी भी कहै मन्नै दातां से खावो ।
 ५९९. राबड़ी मे राख रांघै चून चाटै पीसती देखो रे फुहड़ रांड चालै पल्ला घीसती ।
 ६००. रामजी को नाम सदा मिसरी जद चाखै जद गूद गिरी ।
 ६०१. राम दे तो बाड़ में ही दे दे ।
 ६०२. रामदेव जी नै मिल्या जका ढेढ़ ही ढेढ़ ।
 ६०३. राम राम चौधरी सलाम मियांजी पगे लागू पांडियां दंडोत बाबाजी ।
 ६०४. राम रूस्योडो बुरो ।
 ६०५. रावली घोडी बावला असवार ।
 ६०६. रावलै को तेल पल्ले मेई चोखो ।
 ६०७. रुपिया तेरी रात दूजो नर जल्म्यो नहि जे जल्म्या दो च्यार तो जुग मे जीया नहि ।
 ६०८. रिपियो हाथ को मेल है ।
 ६०९. रेवड में कुण गयो ? बाबो ! कहना भेइया से भी बुरो ।
 ६१०. रोज में रोवण जोगो न गीत में गावण जोगो न ।
 ६११. रोगी की रात अर भोगी के दिन करडो नीसरै ।
 ६१२. रोयां बिना मां 'बी' बोबो कोनी दे ।
 ६१३. रोयां राबडी कुण घालै ।
 ६१४. रोवतो जाय मुवै की खबर ल्यावै ।

“ल”

६१५. लंका मे किसा दालदी कोनी वसै ।
 ६१६. लंका में सब बावन हाथ का (गज) ।
 ६१७. लंघन से लापसी चोखी ।
 ६१८. लज्जवंती घर मे बडी, फूड जाणी मेर से डरी ।
 ६१९. लाखां पर लेखो, क्रोडां पर कलम ।
 ६२०. लाय्यो तो तीर, नहि तुक्को ही सही ।
 ६२१. लाठी टूटै न भांडो फूटै ।
 ६२२. लाडू को कोर चाखै जठै ही मीठी ।
 ६२३. लाडू फूटै जठै भोरा खिडै ही ।

६२४. लातां को देव बातां सैं कोनी मानैं ।
 ६२५. लायलाग्या किसो कुवै खुदै ।
 ६२. लालाजी करी ग्यारस अर बा बारस की दादी ।
 ६२७. लीद भी खाय तो हाथी की खाय जिको पेट तो भरै ।
 ६२८. लीप्यो पोत्यो आंगणू पहरी ओढ़ी नार सुन्दर लागै ।
 ६२९. लुगाई कै पेट मे टाबर खटा ज्याय पण बात नहीं खटाय ।
 ६३०. लुगाई को न्हाणूं मर्द के खाणूं जल्दी ।
 ६३१. लूण फूट फूट कर निकलै ।
 ६३२. लूण बिना रसोई पूण ।
 ६३३. ले पडोसण भूंपडी नित उठ करती राड आदो बगड बुहारती सारो हि बुहार ।
 ६३४. ल्याऊं चून उधारो कोई गुड दे तो मर पड कर खालूं ।
 ६३५. ल्हसण बी खायो रोग "बी" कोनी गमायो ।

"व"

६३६. विद्या बाणियो बैल नूप ये नहि जातगिणंत । जो ही इनसे प्रेम करै ताहू कै लिपटंत ।
 ६३७. वेश्या वर्ष घटावै अर जोगी वधवावे ।

"स"

६३८. सगो कीजै जाणकर पानी पीणो छाणकर ।
 ६३९. सगो समर्थ कीजिए जद तद आवै काज ।
 ६४०. सदा दीवाली संत के आठो पहर आनन्द ।
 ६४१. सदा न वर्षे बादली सदा न सानण होय ।
 ६४२. सदा ही इकसार दिन कोनी रेवै ।
 ५४३. सपूत की कमाई में सैंको सीर ।
 ६४४. सपूत तो पाडोसी को भी चोखो ।
 ६४५. सब कोई भुगते पालडै का सीरी हैं ।
 ६४६. समंदर को के सूकै, सूकै तो भी गोडा ताई पाणी ।
 ६४७. सरीर के रोगी का दवा है मन के रोगी की कोनी ।
 ६४८. सलाम ताई मियां नै क्यूं रूसायो ।
 ६४९. सांकडी गली अर मारणा बलद ।
 ६५०. सांगर फोग थली को मेवो ।
 ६५१. सांच ने आंच कोन्या ।
 ६५२. सांची कह्या झाल उठै ।
 ६५३. सांप के चीखलै को के बडो ओर के छोटो ।
 सांप को खायोडो बी छायां से के डरै ।
 ६५४. सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटै ।
 ६५५. सांप सगलै टेढ़ो मेढ़ो चालै पण बिल मे बडै जद सिदो ।

६५६. सांप सलेटा सदाई देख्या इजगर बाबो अवके ।
 ६५७. सापां के किसा साख ।
 ६५८. सापां कै डर गुगो ध्यावै ।
 ६५९. सांस जब लग आस ।
 ६६०. सँसीया के क्यांको दीवालो ।
 ६६१. सांसी साह मरावगी श्रीमाल सुनार ये सस्सा पाचूँ बुग पहले करो विचार ।
 ६६२. साठी बुध नाठी "सात बार नौ" त्यौहार ।
 ६६३. सात मामा को भाणजो भूखो रँज्या ।
 ६६४. साधवा के कसो सुवाद आवणदे मलाई सुदाई ।
 ६६५. सांभर पड्यो सो लूण ।
 ६६६. सारी रामायण पढ़ली ! सीता कुण की भू ।
 ६६७. साली छोड सासुआं सैई मस्करी ।
 ६६८. सालै बिना क्यां को सासरो ।
 ६६९. सावण का पंचक गलै नदी बहता नीर ।
 ६७०. सावण की छा भूता नै काती छा पूतां नै ।
 ६७१. सावण छाछ न घालती भर बैसाखां दूध गरज दिवानी गुजरी घर में मांदो पूत ।
 ६७२. सासरै को वास आपरे कुल को नाश ।
 ६७३. सासरै खटावै कोनी. पीर में सुहावै कोनी ।
 ६७४. सासू बोली—बीनणी ग्यारस करसी के टाबर हूं—सागार लेसोके इसीके अभागण हूं सो सागार कोनी ल्यूं ।
 ६७५. सासू मरगी कटगी बेडी भू चढ़गी हरकी पेडी ।
 ६७६. सिकार की बखत कुतियां हंगाई ।
 ६७७. सीर पर भींटको तम्बू में बडवादे ।
 ६७८. शिव-शिव रटै संकट कटै ।
 ६७९. सित को चनण घसरै लास्या तूं भी घस तेरा घर का नै बुलाल्या ।
 ६८०. सीतला माता घोडो दिये मन्न कह मैं गधे पर चढ़ी हूं ।
 ६८१. सीधी आंगतियां घी कोन्या नीकलै ।
 ६८२. सीधै पर दो लदे ।
 ६८३. सीर सगाई चाकरी खुशी दावै को काम ।
 ६८४. सीली हो ! सपूती हो सात पूत की मां हो कह रहण दे तेरी आसीस ने नौ तो पेला ही है ।
 ६८५. सीली हो सपूती हो बूड़ सुहागण हो दूदां न्हावो पूतां फलो ।
 ६८६. सुसरो वैद कुठोड़ खाई ।
 ६८७. सूत्या की पाडा ही जणै ।
 ६८८. सूदी छिपकली घणा जनावर खाय ।

६८९. सूतें माथै बामण आछो कोन्या ।
 ६९०. सेर की हांडी में सवा सेर कोनी खटावै ।
 ६९१. सोक तो काचै चून की बुरी ।
 ६९२. सो दिन चोर का एक दिन साहूकार का ।
 १९३. सो नकटा में एक नाक हालो ही नक्कू बाजै ।
 ६९४. सोनूं गयो कर्णक के साथ ।
 ६९५. सोने के काट कोन्या लागै ।
 ६९६. सोने के थाल मे तांबै की मेख ।
 ६९७. सो मे सूर सहस मे काणू सबसे खाटो ऐंचा ताणू ऐंचा ताणू करी पुकार कजा से रहियो हुशियार ।
 ६९८. सोलै साल से माथा न्हायो जेली से सुलभायो ।
 ६९९. स्याणा समझवान की तो सगली बातां मोत है ।
 ७००. स्याम का मरयां नै दिन कद उगै ।
 ७०१. स्वामीजी तिलक तो चोखा करया के सूख्या ठा पइसी ।
 ७०२. स्यालो तो भोगी को अर ऊनालो जोगी को :

ह

७०३. हंस आपके घर गया काग हुआ परधान जावो विप्र घर आपणै सिध किसान जजमान ।
 ७०४. हकीम जी ? मैं तो मरयो तो कह अठ कुण जीरयो है ।
 ७०५. हडर हस कुमारड़ी मालण का टूटै बूट तू कै हसै बावली कैकड़ बैठे ऊंट ।
 ७०६. हथेली में सिरस्यूं कोनी ऊगै ।
 ७०७. हर बड़ा क हिरणा बड़ा सगुणा बड़ा के श्याम अरजन रथ ने हांक दे भली करै भगवान ।
 ७०८. हर हर गंगा गोदावरी कि मैक शरदा अर कि मैक जोरावरी ।
 ७०९. हरयो देख चरै सूक्यों देख बिदकै ।
 ७१०. हलदी जरदी नात जै, खट रस तजै न आम शीलवंत गुण ना तजै, ओगुण तजै न गुलाम ।
 ७११. हल्दी में रंगयोड़ी चादर नाम पीतांबर ।
 ७१२. हवा-हवा को मोल है ।
 ७१३. हांसी में खांसी हो ज्याय ।
 ७१४. हाथ ने हाथ खाय ।
 ७१५. हाथ पोलो जगत गोलो ।
 ७१६. हाथलियो कांसो मांगण को कै सांसो ।
 ७१७. हाथियां की कमाई खातां मीडकां की कद खाई ।
 ७१८. हाथी के गैल घणाई गंडकड़ा घुरीया करै है ।

७१९. हाथी आक की डाली के कोनी बंधे ।
 ७२०. हाथी का खाणा का दांत ओर होय हे अर दिखावा का ओर हे ।
 ७२१. हाथी के खोज में सबका खोज समावे ।
 ७२२. हाथी को गुर आंकस है ।
 ७२३. हाथी नै हरया कुण कहै ।
 ७२४. हाथी मरें तो भी नौ लाख को ।
 ७२५. हारयो जुवारी दूणूं खेलै ।
 ७२६. हारयोडो ऊंट धर्मसाला कानी देखे ।
 ७२७. हाल तो चावल का सा ही है ।
 ७२८. हिया को आंधो गठड़ी को पुरो ।
 ७२९. हिजड़ा की कमाई मूछ मुंडाई में ।
 ७३०. हीजड़ा कीसी कतार लूटी है ।
 ७३१. हीरा की परख जोहरी ही जाणे ।
 ७३२. हूणी ने नमस्कार है ।
 ७३३. हेत कपट व्यवहार रहै न छानो ।
 ६३४. हेत की भाण अण हेत को भाई ।
 ७३५. होणी हो सो होय ।

नोट:—“भी”, “भ”, “भः” पर कोई कहावत नहीं है और डकार, जकार, ठकार, णकार, यकार, शकार और षकार पर भी कोई कहावत संग्रह नहीं हुई है ।



प्रामाण्यवाद और क्वान्तम यान्त्रिकीय धारणाएं

शक्तिधर शर्मा

न्याय वैशेषिकादि दर्शनों के प्रामाण्यवाद की मूलभित्ति कार्य कारणभावसिद्धान्त है। सम्पूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्तों की मूलभित्ति भी यही मानी जाती है परन्तु बीसवीं शताब्दी में सम्भावना सिद्धान्त एवं अनिश्चितता सिद्धान्त (Probability theory and uncertainty principle) की धारणाओं ने वैज्ञानिक जगत् में खलबली मचा दी। पञ्चावयव वाक्यों के आधार पर किये जाने वाले निर्णयों को चैलेन्ज किया गया। पिछले वैज्ञानिक, कार्यकारण-भाव सिद्धान्त की परम्परा के अन्धानुयायी थे। यहां तक कि आइंस्टाईन ने अनिश्चितता-सिद्धान्त का प्रबल विरोध किया और वे मरने तक इन नई धारणाओं के समान्तर, सूक्ष्म जगत् की कठिनातिकठिन समस्याओं के समाधान के लिये परम्परागत धारणाओं के आधार पर ही सिद्धान्तों को सूत्ररूप में विकसित करके दिखलाने के प्रयत्न करते रहे। परन्तु-गणितज्ञ दार्शनिकों ने सम्भावना सिद्धान्त तथा अनिश्चितता सिद्धान्त के आधार पर स्थैतिक एवं गतिक चलों की सूक्ष्म जगत् के गति-विज्ञान में इदमित्थं निर्णय में त्रुटियों की ओर निर्देश किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय वैशेषिकादि दर्शनों में इदमित्थं निर्णयात्मक (Deterministic) धारणाएं हैं, वेदान्त में भी कुछ अनिश्चयात्मक परन्तु अधिकांश निषेधपरक धारणाएं उपलब्ध होती हैं। जैन दर्शनों में सापेक्षदृष्ट्या सम्भावानामूलक अनिश्चयात्मक धारणाओं के आधार पर प्रामाण्यवाद में एक विशेष, क्रान्तिकारी मोड़ स्याद्वाद के रूप में हमें प्राप्त होता है। नीचे इस विषय पर नवीन भौतिक विज्ञान की उच्चतम दार्शनिक गणित-शाखा क्वान्तम यान्त्रिकी (Quantum Mechanics) एवं जैन तथा अन्य दर्शनों में ऐसी ही धारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

क्वान्तम-यान्त्रिकी में चिरसम्मत-यान्त्रिकी (Classical Mechanics) की प्राचीन कार्यकारण सिद्धान्तमूलक धारणाओं की तुलना में, बिल्कुल पृथक् रूप वाली, कार्यकारण सिद्धान्त के विपरीत धारणाओं का विकास हुआ है। इस नवीन गणितीय दार्शनिक शाखा में कार्यकारण सिद्धान्त को सम्भावना घनत्व (Probability densities) की धारणा ने शिथिल कर दिया। हाइज़नबर्ग ने १९२७ में अनिश्चितता सिद्धान्त की गणितीय व्यवस्था दी। इसके अनुसार स्थैतिक एवं गतिक चलों (Static and Dynamic Variables) के योगपद्धति (Simultaneously) मापन करने में अनिवार्य अनिश्चितताओं में ऐसे सम्बन्ध दिये जिससे सूक्ष्म

जगत् के गतिविज्ञान में क्रान्तिकारी उन्नति हुई। यदि किसी सूक्ष्मदर्शीय कण (Microscopic Particle) की स्थिति के मापन में अनिश्चितता ΔX हो एवं उसके संवेग (Momentum) के मापन में अनिश्चितता ΔP हो तो गुणनफल स्थिर संख्या $h/4\pi$ से सदैव अधिक होगा।

$$\Delta X, \Delta P \geq h/4\pi$$

यहां h प्लांक स्थिरांक $h=6.625 \times 10^{-27}$ वर्ग सैकण्ड है। ध्यान रहे—ये अनिश्चितताएं मापन में अशुद्धि नहीं मानी जा सकती अपितु ये अनिश्चितताएं सूक्ष्म जगत् के कणों की गति स्थिति अध्ययन में अनिवार्य रूप से स्वयं निविष्ट हो जाती हैं। कोई ऐसी विधि नहीं जिससे इनका अध्ययन इन अनिश्चितताओं के बिना हो सके। यदि इनका अध्ययन करना है तो ये अनिश्चितताएं विश्लेषण में अवश्य आएंगी। इनका अन्वय-व्यतिरेक “यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् एवं यदभावे यदभावः” सम्बन्ध है। यह कहा जा सकता है कि किसी यन्त्र विशेष तो क्या यदि आंख से भी इनको देखने का संयोग बन सके तो आंख की कनीनिका लैस के कारण भी इनकी स्थिति में इतना विक्षोभ (Disturbance) पैदा जो जाएगा और इनकी गति स्थिति में इतना परिवर्तन होगा कि यह इस सूक्ष्म कण के अपने साइज से लाखों गुणा ज्यादा होगा अर्थात्—इस कण की स्थिति में इतनी अशुद्धि (यद्यपि यह शब्द सिद्धान्तानुसार अप्रयोज्य है।) आ जाएगी कि उसे वहां प्राप्त करना सम्भव ही नहीं। अन्य शब्दों में यह कहा जाय कि जब भी उसका अध्ययन किया जाता है तो उसकी स्थिति में इतना परिवर्तन हो जाता है कि स्थिति सम्बन्धी “अशुद्धि” उसके परिमाण को ही व्यपोहित कर लेती है। क्योंकि स्थिति गत्यध्ययन के प्रयासों में सूक्ष्मदर्शी यन्त्रादि के प्रयोग अनिवार्य है अतः अध्ययनार्थ प्रयास जहां भी होगा, यन्त्रों के प्रयोग मात्र से तरंगात्मक कण की स्थिति में विक्षोभ अवश्य आएगा। इस विक्षोभ के बिना इसका अध्ययन सम्भव ही नहीं। अतः इन विक्षोभों एवं कण की स्थिति का अन्योन्याश्रय या अविनाभाव सम्बन्ध है जब स्थिति में इस प्रकार की अनिश्चितता आती है, तो कण के संवेग (Momentum) गति में भी अनिश्चितता परिलक्षित होती है। कोई भी सूक्ष्म जगत् सम्बन्धी कण हो, इन दोनों अनिश्चितताओं के गुणनफल का अधिकतम मान $h/4\pi$ ही हो सकता है। यह सम्बन्ध प्रयुक्त यन्त्र के निरपेक्ष है। इस अनिश्चितता राद्धान्त के सूत्रपात से सूक्ष्म जगत् के अध्ययन में कार्यकारण भावसिद्धान्त की मान्यताएं शिथिल हो गईं। इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त के सूत्रपात से पूर्व ही सम्भावना सिद्धान्त के आधार पर सांख्यकीय सम्भावना यान्त्रिकी (Statistical Probabilistical Mechanics) के सिद्धान्तों का विकास चल ही रहा था। अनिश्चितता राद्धान्त के सूत्रपात से क्वान्तमयान्त्रिकी की मूलभित्ति बनी। जिसका सांख्यकीय यान्त्रिकी से सम्बन्ध स्थापित किया गया।

क्वान्तम-यान्त्रिकी के सिद्धान्तों को समझने के लिए कुछ उदाहरण बिना गणितीय विश्लेषण के यहां दिये जाते हैं :—

१. कल्पना करें कि इलैक्ट्रॉन किसी विभवरोध (Potential barrier) को

पार कर रहे हैं। कार्यकारण भाव सिद्धान्तानुसार तो यदि विभवरोध की ऊर्जा (Energy) इलैक्ट्रॉन की ऊर्जा से अधिक हो तो इलैक्ट्रॉन उसे पार नहीं कर सकता। इसके विपरीत यदि इलैक्ट्रॉन की ऊर्जा विभव की ऊर्जा से अधिक हो तो कार्यकारण भाव सिद्धान्तानुसार वह उस विभवरोध को अवश्य पार कर जाएगा। परन्तु क्वान्तम यान्त्रिकी के सिद्धान्तों के अनुसार स्थिति बिल्कुल भिन्न है इलैक्ट्रॉन के विभव को पार करने की कुछ सम्भावना है। कण तरंगात्मक है एवं इसकी गतिस्थिति में अनिश्चितता है। प्रकाश की तरंगों की तरह इसका कुछ भाग परावर्तित या अपवर्तित (Reflected or Refracted) हो सकता है। विशेष बात यह है कि कण की ऊर्जा बढ़ाते जाने पर कुछ ऊर्जाओं के लिये अपवर्तित भाग कम होने लगते हैं ऊर्जा और अधिक बढ़ाने पर पुनः अपवर्तित भाग अधिक होने लगती है। यदि ऊर्जा और अधिक बढ़ाई जाय तो फिर घटने लगता है। यह तथ्य कार्यकारण-भाव सिद्धान्तानुसार असंगत है।

२. अनुनादी प्रकीर्णन (Resonance Scattering) भी एक ऐसा ही उदाहरण है जिसका प्राचीन यांत्रिकी में कोई उपमेय Analogous नहीं है। इस प्रकीर्णन में आपाती कण की ऊर्जा विशेष के लिये प्रकीर्णन कृत्तक्षेत्र (Scattering Cross Section) अनन्त हो जाता है और ऊर्जा बढ़ाते जाने पर घटना बढ़ता हुआ कार्यकारण भाव सिद्धान्त के विरुद्ध घटनाएं उपस्थित करता है। इसे इसी प्रकार समझिये जैसे कि किसी विशेष आवर्तांक (Frequency) के लिये रेडियो में आरम्भ में अनुनाद में होता है और Frequency बदलने पर यह स्थिति नहीं रहती। इसे बढ़ाते जाने पर अन्य आवर्तांक के लिये पुनः अनुनाद होते रहते हैं।
३. प्रकीर्णन के अतिरिक्त विनिमेयता-जन्य विजनितता (Exchange degeneracy) भी एक उदाहरण है, जो कि प्राचीन यान्त्रिकीय धारणाओं के विरुद्ध तथ्य उपस्थित करती है। यदि कोई कुलक (System)—कृत्वः विजनितता (n-fold-degeneracy) वाला है, तो यह कुलक यौगपद्येन n अवस्थाओं में विद्यमान है। यह तथ्य अर्थापत्ति-प्रमाण के निगमन के विरुद्ध है, परन्तु-कुलक के अवयव घटक कणों की एक रूपता के कारण यह स्थिति क्वान्तम यान्त्रिकीय धारणाओं में मान्य है। यदि किसी परमाणु में दो इलैक्ट्रॉन (जैसे He⁴) में भिन्न-भिन्न कक्षाओं में होंगे; तो कौन सा इलैक्ट्रॉन किस कक्षा में है? इसका निर्णय सम्भव नहीं। क्वान्तम यान्त्रिकीय धारणाओं के अनुसार यह कुलक यौगपद्येन दो स्थितियों में है। प्रथम स्थिति वह है जिसमें इलैक्ट्रॉन नं. 1 कक्षा नं. 1, (1S) में है और इलैक्ट्रॉन नं. 2 कक्षा नं. 2, (2S) में है यह स्थिति अवस्था (1S)₁(2S)₂ है। दूसरी स्थिति में प्रथम इलैक्ट्रॉन (2S) कक्षा में है, और दूसरा इलैक्ट्रॉन (1S) कक्षा में है यह अवस्था (1S)₂(2S)₁ है। क्वान्तम यान्त्रिकी के अनुसार यह

कुलक ५० प्रतिशत सम्भावनाओं के साथ दोनों अवस्थाओं में यौगपद्येन विद्यमान है। यहां दोनों अवस्था तरंगों के आयामों (Amplitudes) का योग वा अन्तर ही दो अवस्थाएं है। दो इलैक्ट्रॉन का पारस्परिक वैद्युत विकर्षण इस विजनितता की दोनों अवस्थाओं की ऊर्जाओं में अन्तर पैदा कर के उन्हें पृथक्-पृथक् दिखलाता है। यह तथ्य प्रयोगों से सिद्ध है। इस प्रकार कुलक के दो अवस्थाओं में (अथवा अधिक अवस्थाओं में) यौगपद्येन होने की सम्भावना क्वान्तमयान्त्रिकीय सिद्धान्तों में मान्य है। यह समझिये कि उपर्युक्त कुलक में दोनों इलैक्ट्रॉन अपनी-अपनी कक्षाएं बदलते रहते हैं, यह एक अनुनाद की सी स्थिति है। एक इलैक्ट्रॉन एक साथ दोनों कक्षाओं में माना जा सकता है। क्वान्तम यान्त्रिकीय धारणाओं के अनुसार दो कण यौगपद्येन एक स्थान पर रह सकते हैं क्योंकि ये कण तरंग रूप है।

इस प्रकार क्वान्तम यान्त्रिकीय धारणाओं में कार्य कारण भाव सिद्धान्त विरुद्ध कुछ उदाहरण उपस्थित करके अब हम यहां यह विवेचन करेंगे कि भारतीय दर्शनों में क्या ऐसी धारणाएं है या नहीं ?

१. छान्दोग्योपनिषद में त्रिवृत्करण सिद्धान्त एवं तैत्तिरीयोपनिषद में पञ्चीकरण एवं वाद में सप्त भंगी आदि के सिद्धान्त कुछ ऐसी ही धारणाओं को लिये हुए है। उदाहरणार्थ पञ्चीकरण धारणानुसार पृथ्वी महाभूत में आधा भाग पृथ्वी तत्त्व एवं १/८ भाग अन्य महाभूत हैं। एक तत्त्वावस्था अन्य तत्त्वावस्थाओं का मिश्रण हो यह धारणा क्वान्तमयान्त्रिकीय धारणाओं से काफी साम्य रखती है।
२. सांख्य दर्शन के अनुसार सभी तत्त्वों में सत्व रजः एवं तम का होना भी ऐसे तथ्यों के ही उदाहरण प्रस्तुत करता है। विरुद्ध गुणों का एकत्र समावेश यहां मान्य स्वीकृत हुआ है। क्वान्तम यान्त्रिकीय धारणाओं के अनुसार कुलकों में सापेक्ष दृष्ट्या विरुद्ध धर्मों का समावेश तर्क संगत है। इलैक्ट्रॉन विभवकूप को पार करता भी है और नहीं भी। इस प्रकार उसमें पार करने की सामर्थ्य एवं असामर्थ्य इन दोनों विरुद्ध धर्मों का यौगपद्येन समावेश है। सांख्यानुसार महाभूत तामसिक सृष्टि है इसमें तमों गुण प्रधान है परन्तु सत्व एवं रजः की भी कुछ प्रतिशत सत्ताएं है इस प्रकार अन्य तत्त्वों में भी योगेपद्येन सत्व रजः तम ये तीनों गुण अलग-अलग प्रतिशत मात्राओं में है ? ये सब धारणाएं वैज्ञानिक गणित-दार्शनिकों को मान्य है।
३. किञ्च सत्व रज एवं तम की तो क्वान्तमयान्त्रिकीय सृष्टि संरक्षण, एवं विनाश के प्रकारकों (Operators of creation preservation and annihilation) से तुलना की जा सकती है। जापानी क्वान्तम फिजिक्स के विद्वान् डॉ० सकुराई ने इन प्रकारकों की तुलना ब्रह्मा विष्णु तथा महेश से की है।

४. योग-दर्शन में एक ही प्रकार के परमाणुओं में भेद जानने के लिये यौगिक प्रत्यक्ष को साधन माना है। योग दर्शन में एतत् सम्बद्ध सूत्र यह है।

“जाति-लक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् ततः प्रतिपत्तिः।”

इस सूत्र की भोजवृत्ति में लिखा है कि दो तदात्म (Identical) परमाणुओं की एक बिन्दु पर स्थिति सम्भव है और इस सिद्धि द्वारा दोनों परमाणुओं में पार्थक्य ज्ञान होता है। यह ज्ञान उसी प्रकार का है जिस प्रकार वैज्ञानिक लोग किसी विभवविशेष द्वारा विनिमयेता-जन्य विजनितता (Exchange degeneracy) दूर करके दो अवस्थाओं को पृथक्-पृथक् देख लेते हैं।

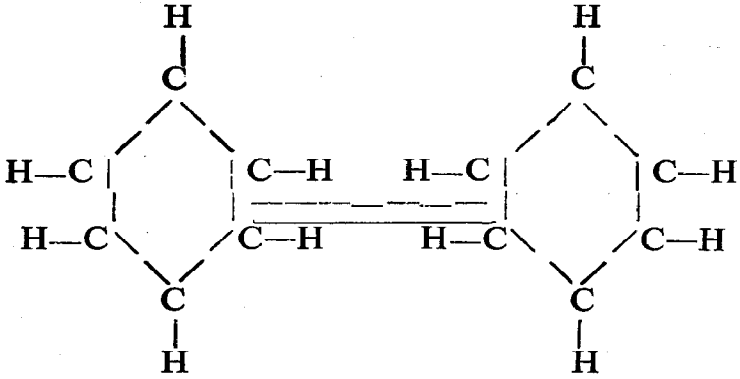
५. जैन दर्शन के प्रामाण्यवाद में तो एक विशेष परिवर्तन स्याद्वाद के रूप में चिन्तन में आया। यह इस दर्शन की अपनी विशेषता है। यहां कार्यकारण-भाव-सिद्धान्तीय दृढ़ निश्चय भाषा के स्थान पर सम्भावना से ओतप्रोत भाषा का प्रयोग होने लगा। ध्यान रहे—यहां अनिश्चितता का स्वरूप, निर्णय की रूपादिचतुष्टय सापेक्षता पर निर्भर है। इस भाषा में तीन कोटिएं हैं। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति एवं अनिर्वचनीयम् अस्ति। इनमें से एक-एक दो-दो एवं तीनों के संचय से सात स्थितिएं प्राप्त होंगी। क्योंकि सभी संचयों (Combination) का जोड़ $3c_1 + 3c_2 + 3c_3 = 2^3 - 1 = 7$ है। इस प्रकार बनी सात स्थितियों के स्वरूप ये हैं—

(१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्यादनिर्वचनीयमस्ति (४) स्यादस्ति स्यादनिर्वचनतीयमस्ति (६) स्यान्नास्ति स्यादनिर्वचनीयमस्ति (७) स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादनिर्वचनीयमस्ति।

इस स्याद्वादीय भाषा में सम्भावना की धारणा है। यह भाषा आधुनिक क्वान्तम यांत्रिकी में भौतिक अवस्थाओं को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयुक्त भाषा के समान्तर है। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भंगियों स्पष्ट रूप से सम्भावनानुप्राणित अथवा अनेक कोटिता तथा भाषा की सहायता से अवक्तव्यता प्रकट होती है। चतुर्थ भंगी में विरोधी गुणों की यौगपद्येन सत्ता के कारण अवक्तव्यता है। पञ्चम, षष्ठ एवं सप्तम भंगियों में अस्तित्वस्वरूप एवं नास्तिरूप के सापेक्ष अवक्तव्यता है। जैन दार्शनिकों की उपस्थापनाओं में इस भाषा का प्रयोग बहुत हुआ है। पुद्गल की गति के विवेचन में इस सम्भावनानुप्राणित भाषा का प्रयोग होता रहा है। पुद्गल की गति तथा गमन दिशा में बलप्रयोग को कारण नहीं माना गया। किञ्च इसे अस्पृशद् गति अर्थात् अन्य पुद्गलों के साथ विना स्पर्श किये ही चलते हुए माना है। ये धारणाएं प्रामाण्यवाद के विरुद्ध है। पुद्गल पर बल यदि किसी विशिष्ट दिशा में लगता है, तो उसी दिशा में उसकी गति होनी चाहिये परन्तु जैन दार्शनिकों का विश्वास रहा है कि वह किसी भी दिशा में जा सकता है। अर्थात् उसकी अन्य दिशाओं में जाने की भी सम्भावना है कार्यकारण भाव सिद्धान्त के विरुद्ध है। पुद्गल परमाणु यदि एक कण है तो इसकी गति में अन्य सभी समीपस्थमार्गवर्ती पुद्गलों के साथ इसका स्पर्श न होना असम्भव

है। भार्गवर्ती पुद्गलों से स्पर्श न होना यह सिद्ध करता है कि उसकी गति पर अन्य पुद्गलों की स्थिति का प्रभाव नहीं होता। ऐसी कल्पना इन कणों की तरंग रूपता से ही युक्ति संगत मानी जा सकती है। जैन दर्शनों में एक उपचय अपचय प्रकट करने वाली धारणा भी है। जो कि तरंग सिद्धान्त से काफी मिलती है।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि क्वान्तम यान्त्रिकीय धारणाओं में स्याद्वाद जैसी भाषा, कुलकों (Systems) की गति स्थिति के निश्चयन में अपूर्णता के कारण होती है जबकि स्याद्वाद में ऐसी बात नहीं है। कुछ भी हो, स्याद्वादीय भाषा क्वान्तम यान्त्रिकीय भाषा से साम्य रखती है। उदाहरण के लिये बैजीन रिंग (Benzene Ring) का केस लें। इसकी द्विक बन्धों (Double Bonds) से जन्म दो अवस्थाएं हैं। जिनमें अनुनाद (Resonance) होता है।



यदि कैकुले सूत्र के परिपेक्ष्य में यह प्रश्न किया जाए कि बैजीन रिंग खुला है या बन्द है? तो उत्तर में खुला है, बन्द है, अनिर्वचनीय है इस त्रिक से बनी सात भंगिये ही होंगी। खुला भी है, बन्द भी है, अनिर्वचनीय है, ऐसी भाषा ही वास्तविक स्थिति को द्योतित करती है। क्योंकि अनिश्चितता राद्धान्त से गणित करने पर ज्ञात होता है कि बैजीन रिंग की दो अवस्थाओं में परिणति की दर एक सैकण्ड में करोड़ों बार है। ऐसी स्थिति में हमारा कोई भी एक निश्चयात्मक उत्तर जैसे खुला है या बन्द है इत्यादि अर्थहीन है क्योंकि वाक्य उच्चारण करते समय ही करोड़ों बार परिवर्तन हो चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि स्याद्वाद की ही भाषा उपयुक्त है। ऐसी धारणाओं की क्वान्तम यान्त्रिकीय सिद्धान्तों से तुलना करना एक विशेष अनुसंधेय कार्य है।

—(डॉ० शक्तिधर शर्मा)

प्रोफेसर, फिजिक्स विभाग,

पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

४५ जैनागमों का सुवर्णाक्षरी मूलपाठ

जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्व विद्यालय) लाडनू के वर्द्धमान ग्रंथागार में ४५ जैनागमों का एक दुर्लभ संग्रह-सुनहरे अक्षरों में मुद्रित मूलपाठ सुरक्षित है। यह लोहे की चार पेटियों में सुरक्षित १३३६ पत्रकों में मुद्रित मूलपाठ है जो श्रीमान् भवेरी नेमीचंद नेगीतचंद वकीलवाला, दीपचंद नीवास, सूरत की ओर से ग्रंथागार को भेंट में मिला है।

जैनागमों का यह मूलपाठ—“श्री सुधर्म स्वामि श्री जम्बू स्वामि श्री प्रभव स्वामि श्री शय्यभव श्री यशोभद्र श्री संभूतिविजय श्री स्थूलभद्र श्री सुहस्तिस्वरि श्री सुस्थितसुप्रतिबुद्ध १० श्री इन्द्रदिन्न श्री दिन्नस्वरि श्री सिंहगिरि श्री वज्रस्वामि श्री वज्रसेनचन्द्र गच्छेश श्री चंद्रस्वरि वनवास गच्छेश श्री सामन्तभद्रस्वरि श्री वृद्धदेवस्वरि श्री प्रद्योतनस्वरि श्रीमानदेवस्वरि २० श्रीमान तुंगस्वरि श्री वीरस्वरि श्री जयदेवस्वरि श्री जयानन्दस्वरि श्री विक्रमस्वरि श्री नृसिंहस्वरि श्री समुद्रस्वरि श्रीमानदेवस्वरि श्री विबुधप्रभस्वरि श्री जयानन्दस्वरि ३० श्री रविप्रभस्वरि श्री यशोदेवस्वरि श्री प्रद्युम्नस्वरि श्रीमान देवस्वरि श्री विमलचंद्रस्वरि श्री उद्योतनस्वरि बृहद्गच्छाधीश श्री सर्वदेवस्वरि श्री देवस्वरि श्री सर्वदेवस्वरि यशोभद्रस्वरि ४० मुनिचंद्रस्वरि अजितदेवस्वरि विजयसिंह स्वरि सोमप्रभस्वरि तपोगच्छेश तपस्वि हीरलाजगच्छंद्रस्वरि देवेन्द्रस्वरि धर्मघोषस्वरि सोमप्रभस्वरि सोमतिलकस्वरि देवसुन्दरस्वरि ५० सोमसुन्दरस्वरि मुनि सुन्दरस्वरि रत्न-शेखरस्वरि लक्ष्मीसागरस्वरि सुमतिसाधुस्वरि हेमविमलस्वरि आनन्दविमलस्वरि विजय-दानस्वरि हीरविजयस्वरि सहजसागर ६० जयसागर न्यायसागर जीतसागर मानसागर मयगलसागर पद्मसागर स्वरूपसागर नाणसागर मयासागर गौतमसागर ७० भवेर-सागरजी पादकमल चंचरीकानन्दसागर सूरिणा चत्वारिंशद्देव कुलिका शिखर युक्त प्रासाद चतुष्क श्री शाश्वतजिनप्रासादयुते मंदिरे सकला आगमाः शिलासु प्रति-ष्ठापिताः” —सौराष्ट्र देश के पादलिप्तपुर के श्री सिद्धाचलाद्रित लहट्टिकागत श्री वर्द्धमान जैनागम मंदिर में शिलाओं पर उत्कारित और शोधित है।

इन जैनागमों में श्री देवद्विगण क्षमाक्षमण द्वारा पुस्तकीकृत आर्हत सिद्धान्तों में श्री आचारांग प्रभृति ११ अंग; श्री औपपातिक प्रभृति १२ उपांग; श्री चतुःशरण प्रभृति १० प्रकीर्णक; श्री निशीथ प्रभृति छह छेद सूत्र; श्री आवश्यकदि चार मूल सूत्र; श्री तन्दी और अनुयोग—कुल ४५ आगमों का मूलपाठ है। इस मूलपाठ को श्री राजनगरीय उत्कृष्ट मुद्रणालयाधिपति पटेल पुरषोत्तमदास शंकरलाल ने सौराष्ट्र देश के पादलिप्तपुर की ‘श्री वर्द्धमान जैनागम मंदिर संस्था’ के लिए मुद्रित करके प्रकाशित किया है।

मूलपाठ की विगत निम्न प्रकार है—

सूत्रनाम	सूत्राणि	गाथाः	शिलांक
१. आचारांगं	४०२	१४७	१
२. सूत्रकृतांगं	८२	७३२	१०
३. स्थानांगं	७८३	१६९	१९
४. समवायांगं	१६०	१६८	३३
५. श्रीभगवत्यांगं	८६९	११४	४४
६. ज्ञातधर्मकथांगं	१६५	५६	१०१
७. उपासकदशांगं	५९	१३	१२२
८. अन्तकृद्दशांगं	२८	१२	१२६
९. अनुत्तरीपपातिकदशांगं	६	२	१३०
१०. प्रश्नव्याकरणांगं	३०	१४	१३०
११. विपाक श्रुतांगं	३३	—	१३४
१२. औपपातिकमुपांगं	४३	३०	१३९
१३. राजप्रश्नीयं	८५	—	१४३
१४. जीवाजीवाभिगमः	२७२	९३	१५१
१५. प्रज्ञापना	३५२	२३१	१६९
१६. सूर्यप्रज्ञप्तिः	१०७	१०३	१९५
१७. चन्द्र प्रज्ञप्तिः	१०७	१०३	२०५
१८. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिः	१८१	१३१	२०९
१९. निरयावल्याद्युपांगपंचकं	३१	१०५	२२४
२०. चतुःशरण प्रकीर्णकं	—	६३	२२७
२१. आतुर प्रत्याख्यानं	१	१३३	२२८
२२. महाप्रत्याख्यानं	—	२७५	२२८
२३. भक्तपरिज्ञा	—	४४७	२२९
२४. तन्दुल वैचारिकं	१९(२०)	५८६	२२९
२५. संस्तारक प्रकीर्णकं	—	७०९	२३१
२६. गच्छ्याचार प्रकीर्णकं	—	८४६	२३२
२७. गणिविद्या प्रकीर्णकं	—	९२८	२३२
२८. देवेन्द्र स्तव प्रकीर्णकं	—	१२३५	२३३
२९. मरण समाधि प्रकीर्णकं	—	१८९८	२३४
३०. निशीथं छेदसूत्रं	—	—	२३८
३१. विशतावुद्देशेषु उद्देश क्रमेण सूत्राणि	५८—५९—७९— १२७—७९—७७—९१—३९—२८—४७—९२—४२ —७४—५१—१५४—५०—१५१—८८—३६—५५		
३२. बृहत्कल्पः षट् सूद्देशेषु	५०—३०—३०—५३—२०		२४१

३३. व्यवहारः दशसूद्देशेषु — ३५—३०—२९—३२—२१— १२—२७—१६—४६—३७			२४३
३४. दशाश्रुत स्कंधच्छेदसूत्रं	५७	५३	२४५
३५. कल्पसूत्रं वारसा	१२०	२६	२४८
३६. जीत कल्पभाष्यं सू०	१०३ व्याख्या	२७११	२५३
३७. पंचकल्प भाष्यं		२६६५	२६६
३८. महानिशीथच्छेदसूत्रं अ० ७—३२.२१७—२०८ ४२—१०.१३६—० २८—२ १२८—४१६ २२—८ १०३—३०			२७९
३९. आवश्यकंसनिर्युक्तिकं सू० ५४ नि. १७१९ भा. २५७ सूत्रगाथा-२१ मूलसूत्रं			२९४
४०. ओघनिर्युक्तिः	नि. ८१२	भा. ३२२	३०५
४१. दशवैकालिकं	२१	५१५	३११
४२. पिडनिर्युक्तिः	नि. ६७१	भा. ३७	३१४
४३. उत्तराध्ययनानि मूलसूत्रं	५८	१६४०	३१८
४४. नन्दी सूत्रं	५९	९०	३२५
४५. अनुयोगद्वार सूत्रं	१२५	१५२	३२७

इस प्रकार यह मूलपाठ कुल ३२७ शिलाओं पर उत्कारित है जिसे कुल १३३६ पत्रकों में सुनहरी स्याही से मुद्रित भी करा दिया गया है।

— परमेश्वर सोलंकी

English Section

AN INCOMPLETE MANUSCRIPT OF GOPA-LEELA

● *Gouri Shankar Tripathy*

An incomplete oriya palm leaf manuscript has been brought to my notice preserved in Vardhman Granthagar in the Campus of Jain Vishva Bharati. Sometimes, it is felt, no critical appreciation should be written on any book or manuscript which is generally incomplete. On this score, there are several reasons. However, in spite of the aforesaid contention I am to pen a few important points that are necessary pertaining to the matter confronted with.

1. This is a Khanda Kavya in oriya language relating to the miraculous achievements and martial strength of both Balaram and Shrikrishna who were the mundane potentates.

In eighteenth century Orissa, Such types of Kavyas are available in plenty from different poets of repute. Hence it can be easily assumed that this Kavya might have been written during the same period mentioned above.

2. First 111 folios of this manuscript are missing which is evident from the fact that it starts from the digit 112. It is continuous up to 228 digit with a missing of two in between 112 and 228 folios leaving behind 114 folios which constitute to the existing incomplete Oriya manuscript in toto on Gopa Leela of Shrikrishna.

Hence It is difficult to ascertain at present as to how many folios are missing after the digit 228 as the Gopa Leela of Shrikrishna also remains incomplete in the aforesaid manuscript and nobody can say here the Oriya poets has completed his Kavya.

3. This incomplete manuscript appears to have been copied from the original as three types of Oriya hand writing are found in the manuscript. Hence it is quite evident that three people must have copied at different times from the original one-perhaps traditionally from the same family.

4. There are six lines in each folio in the entire existing manuscript except a few where four lines are also found.

5 This Khand Kavya has been written on "DAS KATHIA.

STYLE" having fourteen alphabets in one line mentioned as follow where two lines are given as an example.

"GOPE ADHIPATI JE ATANTI NANDA RAI
YE KAHNU SANKARSHAN JE TANKAR BENI POYE"

In the literary culture of Orissa this DAS Kathia Brutta holds much important place.

This incomplete manuscript is mutilated, moth-eaten and perhaps kept carelessly in the unprotected place. The very appearance of the palm leaves is a clear testimony to this. On account of the missing palm leaves from the beginning as well as in the end as such carrying the message of Gopa Leela of Shrikrishna commencing from His birth, the name of the poet and title of the manuscript are missing. Though it is difficult rather of course not impossible, I know the name of the poet at present, but taking the theme of the manuscript a title can be coined for the manuscript as "Gopa Leela".

From the existing part of the manuscript we do find the following :—

"In a cloudless sky, like the brilliant sun, Srikrishna is brilliant bright in the palm leaf manuscript.

His childhood centres rounds many wonderful and attractive incidents. Kansa, the then King of Mathura sent Putana with poison on her nipples to kill the infant Srikrishna, but she was killed instead. Crane Asura had been sent to swallow the boy Srikrishna but he was torn to pieces. This is another example from the manuscript.

"PADILAKA BAKASURA BENI KHANDA HOEE
POE TAHA DEKHU THANTI KHANDE DURE THAI".

Both Balram and Srikrishna were invited to Mathura in order to attend the Dhanu-Yatra, in their childhood from Gopa Pura. Kansa arranged the biggest and most ferocious elephants to tread them to death in Mathura. But these beasts were dashed to death in no time by the two brothers.

A herd of cattle had been stolen away by Brahma through the sky from the Gopa Pura in order to test the divinity of Srikrishna. To his utter surprise Srikrishna created, in no time, another herd of cattle so exactly like those Brahma had stolen. In this way the true incarnation of Vishnu had been testified by Brahma and restored to him the real herd of cattle.

With the fire of its passions the serpent Kaliya in Jamuna was

error when Srikrishna was a child in the Gopa Pura. The animals and birds were annihilated with its fumes and trees on its bank became affected with blight. Plunging into the river Jamuna, Srikrishna challenged the serpent and gained mastery over it as a result the sorrows of all creatures had been dispelled.

With growing admiration one can go through the manuscript when the poet has described the moral outlook ascribed on Kubja at Mathura. A deformed woman Kubja became a beautiful lady with the magical touch of Srikrishna in place of some fragrant ointment presented.

The style of writing of the poet invites attention and applause especially when he described the worship of Govardhan abdoning the worship of rain god Indra. On this occasion Indra had been defeated miserably before the Almighty God Srikrishan though the former had created fierce storm that raged for seven days and seven nights to take revenge upon the Govardhan worship.

Hectic accumulation of episodes is sometimes tiresome for deeper research in order to measure the depth of the incidents in some places. A well acquired taste adds to the appeal of this agreeable manuscripts for scholars.

The spiritual love of Srikrishna with Gopies coloured in terms of physical love, sometimes gives a wrong impression in the minds of the readers.

True picture of Radha, Chandaravali and Lolita had been drawn by the poet in a most facinating manner on different circumstances centering round srikrishna with a touch of divinity.

The immoral tendencies towards krishna worship in an unmistakable way has been betrayed by vallabhacharya sect in order to have the untrammelled gratification of their passions and wishes. Urgent attention of scholars has been drawn towards the spiritual leaders of this sact who have the arrogance of godhood in themselves for the purpose of comparison to the characteristic tendency of krishna worship.

For establishment of Virtues and annihilation of vice Lord Srikrishna took his birth. As no blame is attributed to fire that consumes fuel of every description, the infringement of Virtue and the daring performances that are witnessed in the divine beings must not be challenged as a disgrace."

—(Dr. Gouri-Shankar Tripathy)
JAIN VISHVA BHARATI
LADNUN—341306

THEORY OF RELATIVITY & ANEKANTAVAD

● *N. L. Jain*

A story is narrated that once Mrs. Einstein asked her husband about the theory of relativity. Smilingly, he told about the feeling of time under (a) when a boy spends time with his girl friend and (b) a boy is asked to stand on a hot platform. In the first place, hours seem minutes, while in the second case, minutes seem to be hours. This is the real polyviewstic approach. The theory of relativity started a revolution in ideas since early twentieth century. The whole world-thinking has been effected by it except per chance the Jaina system—so immune to new ideas—per chance there are none as all have been existing in the perfect knowledge of the omniscients. The Jainas have no worries for the physically and intellectually growing knowledge-fronts. They seem to be pleased with their preservative attitude towards their traditional intutional knowledge. It will, however, an humble effort to visualise our current position with respect to the theory of Anekantavada (Relativism).

Types of Knowledge

In early days of human thinking, religion, philosophy and science were not seperated as they are today. The Greek word 'Phys' for physics meant to study the essential nature of things involved in everythings associated with the world and its phenomena. The earliest human thinking starts with monistic hylozoism or animism as evidenced from the first principles of Vedas, Jaina and Chinese scriptures and early Greek schools involving pantheonism, cosmic breath and nature by itself. This principle was later modified to dualism in terms of spirit and matter, soul and body, mind and matter, living and matter, living and the non-living seperate from each other under a single divine principle concept. The Greek atomists pointed living matter to be formed from the complex combinations of atoms in contact with the independent manifestation concept of the living by the Jainas. The philosophers or religionists of east and west of the time turned their attention more towards spiritual world rather than material. Aristotle and eastern scholars called it more valuable. That is why early systems deal with the basic nature of the world rather than gross matter. However, since then, these two facets have been occupying the minds of thinkers.

They acquired their knowledge about them in three ways : (i) direct experience or intuition (ii) intellectual reasoning or analysis and (iii) authority or scriptures containing records by those who delved and realised deeper into the problems and had complete knowledge. The authoritative knowledge has been most threatened by the scientific community since Descartes time in the west while it has been elaborated and extended in most cases in the east.

Human mind is capable of two kinds of knowledge or modes of consciousness which could be expressed in terms of (i) analytic or rational and (ii) psychic or intuitive. In current terms, they may be called scientific and philosophic or religious. Their characteristics are given in table 1. Despite their different nature, however, it is found that as both types of knowledges occur in both the fields, there always seems to be some element of rationality in intuitive knowledge and vice-versa. However, the reliability of these knowledges is comparable according to current scientific opinions.

Table 1 seems to indicate that these two ways of knowledge seem to be quite different from each other in their most characteristics such as nature, object and representation etc. though they use parallel methodology. The scientists were opposed to intuitive knowledge, even, called it sometimes impossible, but researches done in the last 100 years have softened their minds and they are accepting its probability. Kit Pedler has shown that reliable proof for telepathy, clairvoyance, out-of-body experiences and psycho-kinesis are now available. Moreover, it seems that they have moved towards a stage about constructing a picture of reality from sophisticated instrumentation and mathematicalised practical genius which seems quite akin to the intuitive constructs. Moreover, they have realised that their intellectualism seems to have attained a limit for finding out 'basic building blocks' of matter. Hence, they are getting more philosophers than scientific. In fact, it is now opined that the two ways of knowing indicate the complementarity of mind, the modes of being inside the person like the complementarity principle of physics.

The scientific type of knowledge acquired with the help of senses, instruments and intellect. However, some non-sensical knowledge has also been possible in this area (X-rays, radio-activity, sub-atomies), of course through instruments. This is termed as direct knowledge, repeatable by almost all qualified and thus independent of on observers. In contrast, intuitive knowledge has strong internal and individual element expressed in terms of

meditative perception. Though many philosophies have not given details about the types of knowledges, but Jainas specify five types of cognitions.³ The scientific knowledge is involved in empirical direct cognition while telepathy, clairvoyance and absolute cognition is intuitive knowledge. The scriptural knowledge is the fifth one. Thus, the Jainas follow the fact of three types of cognitions which they also call instruments of valid cognition by causal relationship. As they originate from the same source—human mind, they could be assumed to be somehow closely related despite the facts of Table I.

Concepts about Reality and Universe

Both ways of knowing things have given us concepts about universe and its multi-dimensional phenomena. Most scientists and philosophers presume the objective reality of the universe and its contents. Pure monism (animism or inanimism) has changed and since the days of dualistic or Cartesian approach, spirit and matter have been taken as independent realities. The spirit has been termed by various, supposed to be equivalent, names during the ages: body?, mind, soul, brain, consciousness etc. In fact, it is a living unit now called a non-material force of which these elements form a part. The living is responsible for knowing about self and other material world. The living one employed the methods, as above, to learn about the non-living. *Table II* shows the postulated concepts about this world upto nineteenth century—a period known as classical, Newtonian, Cartesian or mechanistic. With twentieth century, starts what we call modern age in which quantum theory and theory of relativity play the paradigmic role for new concepts and ideas, the summary of which is also given in Table II. One observes that almost all points have an altogether changed form in contrast with the classical ideas. It is said that the modern age provides a consistent, logical and problem-solving view of the universe beginning to show compatibility even with paranormal or eastern intuitionism.

Table III gives a comparative statement about modern scientific age of relativity and Jaina canons. It is clearly observed with reference to table II and III that twentieth century scientists are moving closer to Jain philosophy in their conceptology about the universe. However, it also connotes the idea that the position of other jaina postulates seem to be more inclined towards Newtonian age.

Theory of relativity

Different people have varying opinions about the theory of relativity. Some say that it is very difficult and there are very few

people who understand it properly. However, others including Einstein himself feel that it is so simple that nothing could be simpler than that. It may be that its mathematical forms may seem complicate (which we shall not deal with). However, it is based on some common observations which suggest that reality or truth depends on the conditions of the observed and observer-when and where he is. It is not absolute as Newton believed. Some well known examples may be quoted here which form background for this revolutionary theory. They have been mentioned by many authors.

(a) Different realities about a single fact :

A person in a moving train drops a ball out of the window of the moving train. Now, the person in the train will see that the circular ball is getting smaller and smaller moving in the direction opposite to the train. However, if there is another observer static and outside the train, he would look the falling ball making a curve without changing the size and direction. (It means a single event seen by different persons differently under static and moving conditions).

(b) Relativity of Time :¹

Assume there are twin brothers of age 25 and both are astronauts. One of them moves in a spaceship upwards while the other remains on the earth in control room. The space ship sends messages after every ten minutes. However, as the spaceship moves faster and faster upwards towards attaining the speed of light, the control room gets messages at longer and longer intervals. It has been calculated that if the spaceship remains in space for two years, the brother in space will attain the age of 27 years while his brother on earth will have an age of 70 years. This suggests that time is effected by static and moving conditions and is shortened at higher speeds. This also leads to the possibility of past and future reading-a part of omniscience.

(c) Relativity of Length⁴

Suppose a rod has a length of 15 cms. It is true for a stationary observer. However, if the same rod is carried by a person moving, say in a fast spaceship, it will have a length of less than 15 cms. (There is a contraction in length like time showing variability and relativity of length).

(d) Relativity of Mass⁴

A body weighs 50 kg. on a balance here. It is its equatorial weight. If the same body is taken at poles, it will weigh more than

50 kg. However, if the same mass is carried by a person moving fast, it will show higher and higher weight depending on speed of movement.

(e) Looking of Images in the Past¹

When one observes his image in the mirror, it is not the image of the moment of vision. It is the image of the past instant as light must have taken some time to go and come back to the eye. The distant stars we see are the stars of many light years ago as light has taken so many years to reach us. Thus, there is no simultaneity of our observation and reality. We see the past, not present.

There are many more such observations we need not describe.

Quantum Theory⁵

The theory of relativity is not only an attempt to explain the above common phenomena on a finer scale but also to correspond it with the Quantum theory of radiations of Planck of 1901. The Quantum theory has replaced the wave theory of radiation which could not explain many phenomena and modified the concept of Newtonian corpuscular theory. It postulated that radiations are in terms of discrete quanta particles of energy which are associated with a frequency. These quanta are said to be synthesis of dual nature of radiations as complementary rather than contradictory. Thus, quantum theory is the first scientific theory negating the absolute nature of realities and postulating relatively dual nature of radiation-the true nature being a complex one-per chance transcending both the aspects. This concept seems in accord with the theory of Anekantvada. The two-fold predication (positive wrt particles, negative wrt wave aspect) is represented here. A later theory of de Broglie postulated the reverse of Quantum theory that matter is also associated with waves in consonance with the concept of symmetry in natural laws of mechanics and optics. This proved two-aspectal nature of matter as in the case of radiation. Thus, matter and radiations-both become two-aspectal at least and could be relatively defined :

Radiations : Wave \longleftrightarrow Quanta particles

Matter : particles \longleftrightarrow waves

The fundamental question has now been-if both behave both-ways, what is their true nature ? Is it deterministic ? Is it expressible ? The German scientist took up this question and found that true nature could neither be determined nor expressed in common language except myths or symbolism. He observed that even the measuring process alters the real situation. This alteration may be

negligible in macroscopic objects, but it has a tremendous effect in microscopic world. Thus, he proposed the uncertainty principle pointing out the limit of experimentation about reality in atomic phenomena which seems to be a way to the third aspect of reality of Anekantavada. This is equivalent to 'indeterminable, indescribable or inexpressible' aspect of reality. The scientific world, thus, has gone upto three predications of Anekantavada out of seven. This principle also defies the absolutism of classical physics and supports non-absolutism about reality. This 3-aspectal description about the nature of observable reality represents the canonical 3-aspectal philosophical concept which has been modified later as will be shown. Thus, the philosophy of Anekanta has got extended to the real world in the early first decades of this twentieth century. Of course, the third predicate was added to it in the third decade.

Theory of Relativity⁵

Einstein contributed in substantiating the quantum theory by explaining many classically unexplainable phenomena observed. But his most epoch making contribution is his theory of Relativity in the field of physical sciences. He believed in the natural harmony of creation. He had before him two types of entity : (i) gross matter and (ii) dual-natured electromagnetic radiations such as light, along with the above phenomena surpassing the common sense. He was successful in solving the unification of these two entities first through special theory in 1905 and later through his general theory of relativity in 1915. He was also trying to develop a unified field theory to unify those two theories so that behaviour of all systems and forces could be dealt with only through one theory. Though he could not do that satisfactorily, but Geoffrey Chew and David Bohm have taken up his cause which is showing some promise.²¹⁶

The theory of relativity has two aspects : (i) Scientific and (ii) philosophical. The first involves some observational facts on the basis of which abstract concepts have been developed which may or may not be in tune with classical concepts. The philosophical aspects contain the basic intuitive or subjective conceptualisations which may not be subject to experimentation. The sub-atomic phenomena has forced scientists about the limit of their experimentation as they observe that when they try to produce finer fundamental particles by highly energised collisions, they obtain somewhat grosser particles due to mass-energy interchange. Relativity concept has helped this philosophisation of science. Moreover, even the scientific aspects of the theory have been able to confirm and expand the theory of

Anekantavada from a purely speculative mental construct to its applicability in many real physical phenomena experimentally and mathematically for fuller understanding them. It has also confirmed the fact of limitation in acquiring complete knowledge independently as is connoted by Anekantavada, thus advising scientists to go beyond science for learning completely about reality.

The relativity theory consists of combination of two laws : (a) law of equivalence and covariance and (ii) law of maximalness and constancy of velocity of light Table III gives comparative details about the concepts and statements of the relativity theory and various Jaina postulates as understood by this author. It is seen that while the Jainas agree to the law of equivalence for uniform systems and therefore, concept of relative aspects giving it a philosophical and logistic support, they might not be in a position to agree to the maximalness and constancy of velocity of light on canonical grounds on which the relativity theory is based. Moreover, the constancy of light has also been suggested to be violated in case of many paranormal phenomena¹ and Hubble—Narlikar theory.⁵ However, the velocity of light is a physically measurable phenomena and non-agreement with it leads to many other variances of Jainas on physical issues based on it as shown in the Table.

In fact, this Einstein combination of two laws has led not only to explain the above phenomena, but have forced the scientific community to modify their ideas regarding absolute truth or reality, space, time, matter, simultaneity and gravitation. These have all been turned into relative phenomena in the world. This has led to abandon the ether and gravitational field concept which were equated with the Jaina concept of medium of motion and rest as the theory could explain all the phenomena even without them.⁶ Moreover, normal 3-d space has been extended to 4-d space-time continuous having a non-traditional geometry reducing the concept of time as an independant reality into it becoming an inseperable part of space. These modified views have not only been derived mathematically but verified experimentally too.

Anekantvada or Jain Relativism

Anekantavada is one of the most fundamental philosophical principles of Jainology in tune with their habit of aspectwise studies in terms of different types of disquisition doors (positings, stand-points, instruments of cognitions etc) and in tradition of a pre-canonical scripture named 'Astinasti-pravada'-now extant.⁴⁷ Its seedlings are sufficiently traceable in canons but it was fully developed into its sevenfold predications by ascetic scholars like Samantbha-

dra, Siddhasen, Akalanka and others.⁸ Jainas have won many debates of historical importance on this basis in the past. Many Jain scholars have composed texts on this topic only. Currently, Tatia, Mukherji, Mehta⁹ and others have written about its philosophical, ethical, spiritual, social and individual aspects in excellential figure of speech while Kothary, Mahlanbois, Haldane, Mardia, Munishri Mahendrajī, Javeri, G.R. Jain¹⁰ and others have a current scientific approach in their writings exemplifying its validity with respect to current scientific developments and observations involving relativity and statistics. In accord with them, the tables given in this paper suggest that the theory has a comparable conceptualisation which results in some canonically differing views on many observable facts. However, it has worked wonders in metaphysical phenomena like the relativity theory in physical phenomena. In fact, as Mahatma Gandhi, has extended the applications of non-violence from individual to national and international level, the Quantum and relativity theories have extended the application of Jaina Relativism from philosophical to physical phenomena. However, it tries to establish uniformity amidst diversified philosophical views and encourages religious harmony. It is a principle of rational unity. That is why some call it a super-specialisation induced by psychic elasticity.¹¹

Historical Development ^{7,8}

Malvania has guessed that the dream of seeing a variegated coloured bird in the pre-omniscience night is an indication of Mahavira's pluralistic and multi-aspectal sermons the examples of which are traceable in Bhagvati and other canons. It could be supposed to have developed from contemporary reductionistic trends in which description of reality or an issue could be made on the basis of simultaneous correspondence between contradictory attributes by separation or division in parts of an issue. Mahavira tried to resolve many complex philosophical problems of the day by this method. The reductionist method has been later converted into a wider holist method involving aspectal or partial truth of opposites and termed as Anekantavada. This represents a harmoniser of human minds and aims at unification of contradictions. Anekantavada is a philosophy which is applied through a method termed as Syadvada or Saptbhangi (relativism or seven-foldedness).

The theory of Anekantvada is applied through various predications in respect of an object or knowable. Sthnanga mentions two-fold predications of about 16 contradictory pairs.¹¹ Nasadiya Sukta of R̥gveda and Mandukyopnishada and other Indian philosophical

systems mention two-fold predications for quite a number of philosophical issues and went upto three representing.

- (i) Existence or positivity with respect to self.
- (ii) Non-existence or negativity with respect to not-self.
- (iii) Indescribable (like non—both (i) & (ii))
- To these three, the fourth was added later in terms of
- (iv) Existence-cum-non-existence (both (i) & (ii)).

The Canons follow this order of predications. However, the age of logic modified not only this order replacing (iii) by (iv) but increased the number of predications from four to seven, thus, getting the name of 'Saptabhāṅgī' for this principle. Thus, it is in the fifth century AD that the current form of Anekantavada system was well established after about 1000 years after Mahavira. It is this form which was followed by later Jain scholars for defending Jain principles through debates and treatises. However, it must be added that the theory had its origin on philosophical issues (i.e. mostly non-observable entities) but it was extended to many physical phenomena in the age of logic. Now, its philosophy has been extended to other realistic experimental issues in explaining them properly.

Basic Postulates of Anekantavada

The basic postulates of Anekantavada may be summed up as follows :

- (a) Every knowable object or entity is endowed with infinite number of attributes—quite a number of times seeming to be contradictory. It is conglomeration of attributes.
- (b) A knowable entity can not be described as a whole unless it is integrally studied with respect to all its aspects.
- (c) The description of physical and universal phenomena do not represent the real truth, but truth with respect to some aspectal prominence.
- (d) The seemingly contradictory properties are nothing but complementary parts of the whole in multi aspectal approach.
- (e) Every description about an entity may represent a partial truth. Thus, Anekantavada is an integrated form of different partial truths.
- (f) Different observers under different conditions may have different truths about the same phenomena.
- (g) Our language is not capable of describing multi-aspectal description. Our statements are, therefore, prefixed with the term

'Syat' or 'with respect to'. 'May be' does not seem to be a good translation for 'Syat'.

(h) Any object could be described in terms of seven-fold predications, now supported by relativistic and statistical argumentation. These may be stated in various ways having the same meaning. They are as below :

- (i) Existence with respect to self.
- (ii) Non-existence with respect to not-self.
- (iii) Existence-cum-non-existence with respect to both (logic age sequence).
- (iv) Inexpressible or indeterminate.
- (v) Inexpressible as qualified by existence.
- (vi) Inexpressible as qualified by non-existence.
- (vii) Inexpressible as qualified by both-existence and non-existence. Kothari mentions that the fourth predication is key element of this system supported by modern physics.

(i) Following are some of the topics dealt in philosophical literature applying this principle :

- (a) Eternal-cum-changing nature of reality.
- (b) Particular-cum-universal nature of reality.
- (c) Identity-cum-difference of substances and their qualities.
- (d) Absolute permanence-cum-fluxism.
- (e) Internal and external causality.
- (f) Permanence-cum-impermanence of sounds.

L.C. Jain⁴⁰ has mentioned about twenty such topics covered by Anekantavada in literature. However, they do not cover physical phenomena, where it could be applied such as.

- (i) Dual nature of radiations and matter particles.
- (ii) Heliocentric and geocentric nature of universe.
- (iii) phenomena connected with static and fast moving observer, object and events
- (iv) Inter-relatedness of mind and matter.
- (v) Variability of mass, length and time under static and fast moving conditions.

Many authors have described Anekantavada mostly qualitatively with above characteristics. They have called it as highest reach of intuitive human mind, dynamic dialectics taking us deeper and deeper into exploration and comprehension of reality and as a guide and inspiration for fundamental studies in science and mathematics. Of course, it may not be mathematical but it is highly statistical and speculative. It is universally applicable and indispensable for

ethical, spiritual and intellectual-cum-mental non-violence. It is not a rest house for absolute truth, but it leads us to absolute truth. It is a principle of 'Also-ism' rather than 'only-ism'.

However, Mahlanbois¹⁰ has suggested it to be the logical background of statistical theory in a qualitative form. He maintains that sevenfold predications of Syadvada are necessary and sufficient to exhaust the possibilities of knowledge, as exemplified by him through tossing a coin. Kothari¹⁰ has also supported him and has gone still further to show that Syadvada mode of seven-fold predication may be illuminated through the superposition principle of quantum mechanics by the example of an atomic particle in a box with two compartments. We need not go into details of the representation. However, the interested readers are referred to KGS Fel. Vol. Rewa, 1980 p. 368. Haldane has also realised the importance of Syadvada by stating that any logical system allowing conclusions intermediate between certainty and uncertainty should interest scientists.

All this shows that the theory of Anekantavada basically involves not only the qualitative and logistic frame for the Relativity theory, but also to Quantum mechanics, Principles of complementarity and superposition and statistical theory of probability which support the dual nature of radiations and particles and point out the relativity of seemingly opposite attributes and inter-relatedness of various events and phenomena. Moreover, the many scientifically verified paranormal phenomena also suggest the subjectivity of our experience which is involved in the concept of Anekantavada. This was also the preferred view of Einstein, though it was eluded in his theory but it is getting involved in newer theories.

There is sufficient discussion about the terms 'soul, mind and consciousness' which are definitely different from brain. In contrast to Jain philosophy, majority of scientists do not commit about soul, but they agree to mind with characteristics of consciousness and control. It is now felt that mind resides as a whole in every part of brain in a less physically fixed state like a hologram but it has higher mobility. It could become dis-embodied and interconnected with matter giving strain gauge signals, Gerald Feinberg⁶ has opined that mind may be equivalent to a 4-touch mindon type particle or force which may not, thus, be immaterial. It will be equivalent to the psychic mind of the Jaina concept rather than physical mind which is equated with brain. Thus, mind becomes an integral part of the knowing process. It does not remain as observer alone it becomes a participator of the whole process of knowing. This

inclusion of subjectivity concept in the process of knowing strengthens further the theory of Anekantavada by increasing the number of aspectal issues for much better understanding of reality. The mind and matter or objects become complementary to each other specifying the result with mental design.

Comparison

The Tables given show us that the relativity theory supports the basic concepts of Anekantavada regarding infinity of attributes, aspectal and total truth and integral complementarity of opposites in a unitary system. These concepts lead one to better and deeper insights into the nature of reality. This is an appreciable part of Anekantavada theory based on mental construct. However, when physical phenomena are examined under these concepts, they show quite dis-similar results to those postulated in Jaina scriptures. Jain canons do not seem to support the modified views through relativity theory regarding space, time and matter as they postulate absolutism, independence and non-effectism, even though interrelated, about them. Of course, time is an exceptional reality which has an absolute and relative variety. There seems to be some difference of opinion about their definitions in the two Jain schools,¹⁹ however, relative aspect of time as a frame of reference is common in both the schools. Muni Mahendraji has mentioned that Jain concepts seem to be more in tune with Newtonian or classical concepts. However, he has opined that the postulate of absolute space or time may not be useful in realistic world, but that should not mean their negation at least logically. It seems to be due to incapacity of the experimenter rather than their objective negation. He has quoted Reinbach to confirm Jaina postulates about separate realities of space and time. This is a philosophical and transcendental approach not subject to verification. However, Anekantavada may be applied to these issues of absoluteness or relativity of space and time. Nothing has been commented on the variability of mass with velocity as per chance, mass may not be a speculative object. These variant views are also found in case of concepts of gravitation and other physical phenomena.

Further, Munishrijji has comparatively analysed the results of relativity and has supported the canons on the ground of questioning the credibility of ever-changing science in contrast with never-changing characters of canons based on omniscient perfect knowledge. This seems to be a traditional indirect disregard for the highly dedicated labour and intelligence of scientists in contradiction

to the spirit of Anekantavada. Moreover, it can be shown that basic canonical concepts have also undergone modification, for example the development of concept of dualism, i.e. separate postulation of living and non-living out of basic animism. Many more such cases have been cited under various categories by Jain.¹² The changing-cum-eternalist Jainas call 'change or modification is progress' while maintaining 'never-changeness' to the contrary. Do they want to be called as non-progressive? In the world of dynamism, knowledge must move forward to better the humanity. Had knowledge remained static, human beings would never had material or semi-material progress.

However, it must be pointed out that reality stops at a point by describing the object in two contradictory aspects without telling its integral nature. Though through it, limitation of expressibility of language is realised, but the nature of reality as inexpressible is not postulated. In fact, the nature of reality cannot be expressed under simultaneous contradictoriness. This was realised by Anekantists who did predict it as a whole. Thus, the Jaina theory goes somewhat deeper into the nature of reality. Heisenberg realised this point through his uncertainty principle. However, Kothari has remarked that the additional four predications about reality in Anekantavada require peeping into higher or finer planes of reality for which the theory of relativity does not feel competent. Thus, Syadvada takes us to deeper explorations.

Table IV has been prepared with a view to give informations about many points of similarity, dis-similarity and distinction between the theory of relativity and Jaina relativism or Anekantavada based on the above discussion. Though these points are not exhaustive, but they represent the salient features of the two theories. There may be some repetition from earlier Tables. It is observed that there are six points of similarity, four points of distinction and eleven points of dis-similarity. If we analyse these points, we find that the points of similarity represent the philosophical aspects of the theories, points of dis-similarity indicate physically verifiable issues and points of distinction applicational aspects. We find that Anekantavada is in tune with relativity on philosophical grounds but it has wider applicability towards betterment of human nature inculcating habits of mutual tolerance and accommodation besides better physicalism. However, it reflects a status-quoist mind regarding physical laws—thus having Points of dis-similarity nearly equal to the sum of two other points. A scientist could easily feel this fact as the real cause of faith erosion. Anekantavada has the capacity to check

it, but how? This is the problem for religious authorities to think over and act seriously. ○

Table I
Characteristics of Rational and Intuitive Knowledge

Rational (Scientific)	Intuitive (Philosophic)
(a) Nature	
1. Western system	Mostly eastern system
2. Analytic and scientific	Psychic and speculative/philosophic
3. Quantitative	Qualitative, intuitional
4. Reductionist	Monist/Holist
5. More valued but lower kind	Less valued but higher kind
6. Relative knowledge	Absolute Knowledge
7. Abstract/conceptual Knowledge	Non-abstract/complete
8. Non-traditional, western	Traditinal, eastern
9. Scientific tradition	Mystic tradition
10. Observer-concepted	Participator conceived
11. Pattern of matter	pattern of mind
12. Modifiable, changeable	Non-modifiable, eternal
13. Everyday way, repeatable	Way of One-related, rarely repeat
14. Limiting range and applicablity	Unlimited range
15. Linear, sequential structure	Non-linear, Non-sequential
16. Sensory reality	Clairvoyant reality
17. Paranormal phenomena possible	Paranormal phenomena exist
18. Deals mostly with macroscopic world and indirectly with micro world.	Deals directly with sub-microscopic world and even non-material world.
19. Reason and logic prevail.	Reality transcends reason
20. Require secondary details	Intuition has only primary details.
21. Subject to checks/measurements	Not subject to analysis/checks
(b) Representation	
22. Ordinary state of Consciousness	Non-ordinary state of consciousness
23. Mar or representation of reality	reality itself
(c) Acquirers	
24. Non-coniscients/scientists	Omniscients and yogis
25. Acquirers may be proved wrong	Intuitinists may never be wrong
26. Belief in everchange/modification.	Calls for never-changing laws

d) Process of acquiring knowledge

27	Experimental	Direct experiential
28.	Non-meditative	Meditative, direct insight
29	Local causes work	Mostly non-local causes work
30.	3-stage set	3-stage set
(i)	Experiment, hypothesis, communication	Meditative introspection, Direct insight/watching, Interpretation/communication
(ii)	Good training required	Good masterly training required
(iii)	Sensory perception	Beyond sensory perception
(iv)	Sometimes intuitional flash	Purely intuitional for long times
(v)	Philosophisation follows	Intellectualism follows intuition
(vi)	Communication difficult in depth	Communication more difficult

Table II

Classical and Current Concepts about Universe

Classical Concepts	Current Concepts
<i>1 Universe</i>	
1. Classical physics is a solid rock	Modern physics calls it a marshy one
2. Universe is a predictable, objective, engineered commonsense reality.	Universe is indeterminate, inseparable in parts, strange to senses, transcending classical logic, subjective, dynamic reality-an inseparable whole including observer in an essential way.
3. Universe is a huge self-regulating mechanical system-a deterministic one	—
4. Heavenly bodies move with evenness following laws of motion	
5. It is created by Ged, the clockmaker	Created by God, the cosmic dancer
6. Newtonian laws of motion/mechanics hold	They do not hold under high velocity, smaller mass, sub-atomic events. The absoluteness turns in uncertainty.
7. Law of causation is strictly followed	Causation may not apply in all Cases (EPR effect, precognition, fundamental particles, intuition)

8. Universe is hard-edged and Boundaries, edges, borders do not static exist
9. Universe consists of polar The polar opposites are but opposites complementary and superposable
10. In universe, observer, object They are interrelated, interdependent and inseparable. Particles and medium are separated have no meaning as isolated entity

B. Contents of the Universe

11. Its contents are mind (soul), It is a dynamic web of inseparable matter, space, time, ether, energy patterns. The contents gravitation, electromagnetic are more of subjective nature, radiations and force fields- forces are dynamic patterns of separate, independent and particles and exchange of particles objective unifying force and matter

C. Matter or Mattergy

12. It is made of small, solid, Atoms have been subatomised and indestructible mass point basic blocks do not carry any atoms meaning-their solidity dissolved into dynamic wave-like pattern
13. Material bodies are rigidly Force and matter have gone inseparable and interchangeable, connected with force of gravity-an innate property exist only in middle universe
14. The mass and shape of They are variable with motion matter are unchangeable and absolute
15. Light and heat are cerpuscular- Radiations have dual nature. Matter particles are also wavicular
16. Matter and energy/force are Matter is concentrated energy separate
17. Properties of matter and particles can be studied absolutely They can be studied approximately only in terms of interactions with surroundings-observer or its consciousness. Any system is never isolated. It is integral part of a whole

D. Space

18. Space is absolute, void, static, Space is clastic and changeable. 3 d and unchangeable It is a space-time 4-d continuum It follows Euclidean geometry inseparably related with time. It is non-empty and relative. It follows non-Euclidean geometry and curved

19. Space and time are indendant of each other and absolute. They are inter-related part of a whole. Its absoluteness gives fixed frame of reference
20. All events happen in space and time. All events occur in space-time continuum. They do not happen

E. Time

21. Time is absolute, independent, invariant objective reality serving as a frame of reference like space. Time is also elastic and variable
22. Time may be divided into past, present and future. Divisions of time is an illusion

F. Mind or Soul

23. Mind may be equated to consciousness. Mind represents subjectivity
24. There is nothing like soul as non-material entity. Mind may be residing in brain loosely. It could be a force, energy or non-material as soul

G. Philosophy

25. Absoluteness of space, time, matter. Based on relativity and quantum theory
26. Reductionist ideology. Holist ideology
27. Sensory knowledge is complete and absolute giving valid description. Valid knowledge is not sensory only but is through knowing oneness of the observer and objects. It is better gained subjectively
28. Objective science is irrespective of the observer, excludes subjectivity. " " "
29. Physical observations present truth and absolute reality. Physics can't study reality but connections only between mind and observable systems. The observations present only aspectal truth, not the real. Measurement effects

Table III
Concepts of relativity and Concepts of Jainas

Relativity

Jaina concepts

1. There are two types of systems :—(i) inertial and (ii) accelerated. No such classification exists

2. There are two versions of The Relativity theory may be treated as equivalent to Anekantvada special theory and (ii) general theory (iii) The special theory unifies mechanics and electromagnetics while general theory deals with gravitation

(iv) Attempt is being made to unify the two theories towards a universal law. A super-universal theory is under trial.

(v) Newton also had Relativity theory :

(i) Law of equivalence

All these statements may be agreeable in jaina philosophy

(ii) Mechanics is unaffected by frame of reference

(iii) All events occur in absolute space and time

(vi) Classical laws have limitations for (a) small masses and (b) high velocities. They are also not applicable under polar opposite systems

These limitations are not found in texts

(vii) The special theory of Relativity has two postulates :

The physical laws assume uniformity in systems in macroscopic world.

(a) Physical laws are the same when stated for two systems uniform translatory motion (Law of Equiv.)

(b) The velocity of light is maximum and constant

This is not agreeable. There may be superluminal speeds as in (i) atoms (ii) transmigratory motions and sound canonically. EPR paradox & MN theory possible.

(viii) The theory has led these concepts :

(a) Length, time and mass are

Length, mass and time are absolute

relative and variable

and unvariable under all conditions. They are related but not inseparably

(b) mass increases with velocity

(c) length decreases with velocity

(d) Time contracts with velocity

(e) Concept of simultaneity of space and time have only relative meaning and not absolute

Simultaneity phenomena is not found in canons, but it could be inferred absolute because of similar nature. The third predication gives hint at simultaneity, however

(f) Motion and rest are relative independent of any inert or active medium. Systems can work without them and therefore, not needed

Motion and rest depends on absolute and independent mediums. They can not occur without them. Despite their current relativity, their absoluteness still remain intact.

(g) Radiations are not purely waves, but particle (Quanta) of energy also. Thus, they show a dual nature

Light and heat (only the two forms in canons) radiations are mattergic or corpuscular in nature. Their wave nature is not traceable in canons. However, Anankantvada may support duality with different aspectual view.

(h) Mass is a form of concentrated energy as per, $E=mc^2$

This type of relationship is not traceable in canons

Both are interconvertible as below :

(a) Materialisation of energy
High energy gamma/cosmic rays—electron-positron pair

(b) Energination of matter
electron+positron—Radiant energy

(ix) The polar opposite systems are complementary

Anekantvada is an ancient form of complementarity stating opposite attributes are parts of the whole

(x) The general theory states that space is curved and forms are absolute. Space contains ether

Space is 3-d and time is 1-d. They

- a⁴ d space-time continuum. realities besides matter. Space is
 Space contains matter not generally curved.
- (xi) The inertial mass=gra- No such effect in canons
 vitational mass : $F/a=w/g=m$
- (xii) Universe is a non-cucli- Universe is eternal, spatially and
 dean system boudless yet timally infinite, the finite space
 finite. It is cylindrical/sphe- is surrounded by un-occupied
 rical as a whole. It may have space-curved and finite
 un-occupied space too. Thus,
 it is a Einstein-De Settar
 model
- (xiii) It is impossible to know It could be true for common man
 absolute truth only

Table IV

Comparision between Relativity and Anekantavada

Relativity

Anekantavada

1. Similarities

- (i) It is an attempt towards unifi- It is an attemet towards unifor-
 cation of physical laws spread mity among diversified philosophi-
 over many diversified domains cal and physical systems. It
 endorses extremist views as aspect-
 tal truths. It is law of unification
 of contraries
- (ii) The macroscopic world is part All systems and laws stated in
 of total world where classical laws different metaphysical systems are
 held. They form only one aspect partial truth, not the whole truth.
 of total truth They may be applied to physical
 systems also
- (iii) Polar opposites may be reali- Anekantavada is based on comple-
 sed as complementary aspects of mentarity. Intuitional insight
 reality transcends contrarities
- (iv) The theory is unlocking the It is the key to unlock the mystery
 doors of many practical and the- of paradoxical reality
 oretical problems
- (v) Relativity is an attempt lea- It also aims at better comprehen-
 ding to precise/the rough compre- sion to avoid vagueness
 hension
- (vi) Law of causality is limited to It also relies on causality. However,
 gross world. It does not always intuition works on non-local
 work as in EPR and paranormals causes

2. Distinctions

- (i) The theory has limitations. It mostly refers to physical phenomena
 Though it was originated for philosophic issues, but it has applications in moral and spiritual world besides physical phenomena. It is wider in scope
- (ii) The theory has only 2-aspectual description. Uncertainty principle has added a third dimension (Verifiable)
 In it, the inference is examined with 7-aspectual approach verifiable statistically and quantum mechanically. It goes deeper into reality and advanced over Relativity
- (iii) Relativity concept may be improved and is not the limit of knowledge
 It indicates the limit of rational knowledge through its predication of indescribability
- (iv) It is intellectual, mathematical, logical and verifiable theory. It was postulated during 1905-15
 It is intuitional and subjective construct of experience and wisdom. It was postulated earlier than 527 B.C.

3. Dis-similarities

- (i) It is biased more towards observable phenomena, though mind-matter relationship is involved
 It is biased more towards meta-physical/philosophical world. It reflects strong mind-matter relationship. It may be extended to physical reality
- (ii) The unification of natural laws may be mathematicised involving micro-and macro-world
 The intuitional insights can not be mathematicised. Its logic did not encourage quantitative observations. However, some modern scholars have tried to express Anekantavada in different mathematical forms :

Statistically (i) $3 C_1 + 3 C_2 + 3 C_3 = 7$

Holistically (ii) $+ 00 S P. ap = T = O$
 (P=aspects or Stand-points) T=truth, O=Inexpressible)

(iii) $- 00 S^7 P. dp = T = 24$
 (where 24 parameters are virtually insolutlity).

- (iii) One can have only relative truth, not the absolute truth. It depends upon 'when and where' you are. Common man can have only a special truth, but perfect knowers may have absolute truth.
- (iv) The classical views of absolute mass, time, space have to be modified in terms of relativity. Space and time may be relative as well as absolute. There is no contradiction in interrelation.
- (v) It has [virtually no credit to unverifiable intuitional insight. It relies on intuition more over experimental observations. Logic is to systematise experience.
- (vi) It has a rational and co-operative approach. It has a paranormal and philosophic approach less prone to reason. It could not progress due to overlogic.
- (vii) It is not represented by particular term and it has a literal meaning. It is denoted by the prefix 'Syat' or some respects to indicate partial true character of statement.
- (viii) It discards, modifies or even replaces classical laws and views. It maintains the old and new views intact as every view is partially true. This overburdens the mind for action.
- (ix) The contradictory attributes may be observed at the same time. This may not be acceptable. A system can not behave ambiguously at the same time.
- (x) Mass is a concentrated form of energy and interconvertible or even annihilable. This postulate is not traceable in canons but many scholars have made a guess about it.
- (xi) The space may follow Euclidean and non-euclidean geometry. The space follows traditional geometry. □

References :

1. Kit Pedler ; Mind Over Matter, The mas Muthuen, London, 1981, p. 24,47-9,81,105,112,155,163
2. F. Capra ; Tao of Physics, Sanbhala Publications, Beston, USA, 1981, p. 5-10,13-71
3. Umasvati, Acharya : Tattvarthasutra, Varni Granthmala, Kashi, 1949, p. 17
4. Rajam, J.B.; Atomic Physics, S. Chand & Co. Delhi, 1984, p. 374-463,494,1240
5. Jain, G.R.; Cosmology, Old And New, Bhartiya Jnanpith, Delhi, 1975, p. vii, 152,158

6. Javeri, J.S. : Microcosmology, Jain Vishva Bharti, Ladnun, 1991
p. 137, 178, 183
7. Dixit, K.K.; Jain Ontology, LD Institute. Ahemedabad, 1971
p. 14
8. Malvania, Dalsukh : Agam Yug ka Jain Darshan, Sanmati Jnan-
pith, Agra, 1966, p. 52,92-114
9. (a) Tatia, N.M.; Studies in Jain Philosophy, PVRI, Varanasi, 1951
(b) Mukerjee, S.; Jain Philosophy of Non-absolutism, MLBD,
Delhi. 1978
(c) Mehta, M.L. : Outlines of Jain Philosophy, Jain Mission
Society, Cal. 85
10. (i) Kothari, D.S. : in (a) K.C. Shastri Fel Vol., Rewa, 1980 p.
368 & (b) Jeet Abhin. Granth, Jayadhvaj Samiti, Madras, 1986
p. 2 187
(ii) Muni, Mahendrkumar : Vishva Prahelika, Javeri Prakashan,
Bombay, 1969, p. 187-201
(iii) Jain, L.C. : Tao of Jaina Sciences, Arihant International,
Delhi 2.10, 4.18, 4.61-66 (1992)
(iv) Mardia, K.V. : Scientific Foundation of Jainism, MLBD,
Delhi, 1990 p. 80-82
11. Sudharma, Svami : Sthananga, Jain Vishva Bharti, Ladnun, 1976
p. 37
12. Jain, N.L ; (a) Scientific Contents in Prakrta Canons (Intr), (in
press)
(b) Jain System in Nutshell, NSK, Satna, 1993
13. Shah, Nawin; Paper read in Anekanta workshop, Ahmedabad,
1993
14. Jain, Ramesh Chandra; Arhat Vacena, 1,1,1988
—(Dr. N.L. Jain)
Director, Jain Kendra
8/662, Bajrangnagar
Rewa (MP)—486001

EDUCATION IN ANCIENT INDIA AS KNOWN FROM BUDDHIST WORKS

● *Narendra Kumar Dash*

It is believed that in the beginning of the humanity, education was quite unconscious. Gradually human-being learnt to study the nature for food, shelter and safety. "Man exercised the physical and mental powers to save himself from the destructive forces. The elder generation advised the youngsters that what was harmful, how to get pleasure and to keep away from pain. The art of cutting, hunting, defending etc. Contributed to the development of human intellect, the observation of the striking phenomena in Nature laid the foundation of man's ideas of worship and religion and both increased his knowledge of the physical world. Then man learnt to rise above his brutal instincts in the family, village and society under the bounds of customs and laws. This may be the beginning of conscious education".¹

The most potent influence on Ancient Indian education was that of the religious and social environment. In the Vedic age the influence of the priests increased as the ritual of the sacrifice became more complex. The lore of the hymns was taught by the poet priest to his offsprings or near relatives and this, may be treated as the beginning of the education. Gradually, the priestly schools were developed. It was the first duty of a student to learn the hymns of his school with accuracy. Thus the system of *vidhi* and *arthavāda* introduced.² During this time it was necessary to study the six subjects, technically called the *ṣaḍ vedānigas*. From these other subjects were developed.

Home Education :

1.1. The system of home education in ancient India was much more similar to the present system. The members of a family, at their leisure, kindled not only the child's love of nature but his interest in literature, by telling him stories and reading aloud to him extracts from the golden deeds of the epic heroes and heroines. The child's personality was worked and developed and his work assessed and appreciated in his treatment of nursery rhymes as well as in the reproduction of these stories.

Elementary Education :

2.1. The elementary education was started with the knowledge of alphabates. It is obvious that without the knowledge of alphabates, it is not possible to persue the study further. Kautilya remarks that "having undergone the ceremony of tonsure the student shall learn the art of writing and the scripts (*lipi*) "and after the investiture of the sacred thread he shall study the triple vedas.³ Now it may be presumed that the students were used to learn the alphabates before the ceremony of *upanayana*. I-Tsing, the chinese traveller observed that, during his time, the students were being educated with the scripts at the age of six years.⁴ However, Yuan Chwang inform that children passed on to the study of arts and sciences at seven years of age, so that elementary education must have begun earlier.⁵

2.2. So many Buddhist scriptures mention about the subject and the system of the elementary education. The Lalitavistara has a chapter which is dedicated to the art of writing of the letters, their varieties and the sense of each letter. Thus, this text gives a modern system of teaching the letters, as the teacher then taught each of them in association with a sentence beginning with a letter. Again, we know from this text that there were sixtyfour kind of scripts, as the student asked the teacher that which scripts he will taught out of sixty-four varieties viz. *āsām bho upādhyāya catuḥṣaṣṭīlipīnām katamām tvam śiṣyāpayiṣyasi ?*⁶

2.3. The Śikṣā enumerates the course of elementary education as comprising the act of writing (*lipi*), prayers (*stuti*), meanings of words and their mutual relationships (*nighaṇṭu*) and elementary grammar including terminations and tenses, declensions and inflections (*śabda*). The Divyāvadāna refers that pencils were used in writing the letters and the abacus was used to teach arithmetic. The abacus was called as *jantra*.

Now we would like to mention here the report of the Chinese travellers which furnish some idea about the curricula of studies carried on the monastic schools. Yuan Chwang suggests that a student should learn the alphabet followed by the *Siddhir-astu*, a primer of twelve chapters. Then began the study of five *vidyās* viz., *Śabda-vidyā*, *Śilpāsthānavidyā*, *Cikṭtsāvidyā*, *Hetuvidyā* and the *Ādhyātmavidyā*. I-Tsing, however, narrates the subjects in more details and we are not going to discuss these here.

2.4. Beside the *tulā* and *jantra*, the *phalaka* 'wooden writing-board' and *barṇaka* 'wooden pen' were used as the materials for writing the letters. We have the reference of *phalaka* in the Lalitavistara viz., *atha bodhisatya uragasāracandanamayam {lipi phalaka mādhya*

divyārṣasuvāratirakam samantānañiratnapratyuptam visvāmitramācār-yamevamāha—//.⁷ The Jataka stories have also the reference of the *phalaka*. It is interesting to mark that this *phalaka* 'black-board' also is used at present in the Indian elementary schools. Students were used to go to the schools for the education like the present system. The schools were called *lekha-sālā* or *lipi-sālā* viz., *tadā māṅgalyasata-sahāsrāḥ lipi-sālāmupaniyatesma*...etc.

2.5. The medium of the instruction of the primary education in the Buddhist monasteries, was perhaps, the local dialects. Once two *bhikkhus* named Yamelu and Tekula complained before the lord that the priests corrupted the language by their own dialect and offered that they would put down the teachings in Sanskrit. However, Gautam replied—'You are not, O Bhikkhus, to put the word of Buddha into Sanskrit...I order you to learn the word of Buddha each in his own dialect.'⁸ This view of Lord Buddha as described in the Chullabagga suggests that the local dialect was the medium of instruction and it is really a scientific way to educate the children in the local dialect or regional language, rather than a language which is not of their own.

Admission :

3.1. In ancient India, generally education was based on Veda and most of the teachers were Brahmin by caste. But the Buddhist education was not based on vedas and it was not necessary that a Brahmin will be a teacher. The Buddhist monasteries were open to all concerns and not merely for the three twice-born castes.

Regarding the qualifications to take admission in a monastery, perhaps the knowledge of scripts was required. The Mahābagga explains in details that who is fit to take admission in a monastery and who is not. According to that text if a student is affected with diseases then he was not permitted to take admission in a monastery.⁹ Besides, one who is in the royal service, a proclaimed robber, one who has broken out of jail, a debtor, a slave, one under fifteen years of age and one who is deformed in body was also not permitted to take admission viz., *na, bhikkhave, rājabhaṭo pabbājetabbo/na, bhikkhave, dhajabandho coro pabbājetabbo/na, bhikkhave, karabhedako coro pabbājetabbo*/etc.¹⁰

Before the *Upasampadā* ordination, a probation (*parivāsa*) of four months was required for a student who belonged to a heretic (*titthiya*) school. If he failed to satisfy the *bhikkhus* by his character and conduct during this period, the *Upasampadā* ordination was refused to him. However, there was exceptions for the fire-worshippers, the

Jatilas and heretics of Śākya birth. They received the *Upasampadā* ordination directly and no *parivāsa* was imposed upon them. A person between fifteen and twenty years of age could receive only the *pabbajjā* ordination and had to wait till his twentieth year for the *Upasampadā*. The novice (*śramaṇera*) had to live a life of strict discipline during this period under the guidance of an *ubajjhāya*. He had to practice the ten precepts like abstinence from (a) destroying life, (b) stealing, (c) impurity, (d) lying, (e) intoxicating liquor, (f) eating at forbidden times, (g) dancing, (h) garlands and scents, (i) use high beds and (j) accepting gold or silver. He was expelled, if he violated any of the first five precepts or if he spoke against the *Buddha*, *dharma* or *Samgha*.

3.2. The life of a novice in the monastery was regulated by strict disciplines. Every morning, a student having chewed tooth-wood, should come to his teacher and offer him tooth-wood and put a washing-basin and a towel at the side of his seat. Then he should worship the holy image and walk around the temple. After that, he should make salutation to his teacher holding up his cloak and with clapped hands. Touching the ground with his head three times, the student should remain kneeling on the ground. Then, with bowed head and clapped hands, he enquires of the teacher, saying—“Let my *Upādhyāya* be attentive, I now make enquiries whether *Upādhyāya* has been well through the night, whether his body has been in perfect health, whether he is active, whether he digests his food well, whether he is ready for the morning meal?” After getting the answers from the teacher the pupil goes to salute his seniors who are in the neighbouring apartments. Afterwards he reads a portion of the scriptures, and reflects on what he has learnt.¹¹

Teachings :

4.1. The teachings of lord Buddha was handed down by word as this was the custom during that time. Therefore, the method of teaching at that time was chiefly oral. It is, further, clear from the dialogues of *Nāgasena* and *Milinda* that teachings through questions and answers were the usual rule. Again, Buddha adopted his teachings to the need, and capacity of his disciples. It was the characteristic feature of the Buddha's method of teaching that he should examine his opponents' position first. As per example, lord asked *Nigrodha* to ask question to him about *Nigrodha*'s own doctrine. The method of teaching at the *Nālandāmahāvihāra* seems to be both tutorial and professorial. All the students were bound to attend the discourses without fail. The students were engaged from morning to night in discussions. The old and the young ones mutually help

one another. Learned personalities from different cities were used to come to remove the doubts of the students.

4.2. The study of medicine at Taxila seems to have had both theoretical and practical course. The practical course, perhaps, included a first-hand study of plants to find out their medicinal values. Jivaka was sent to Taxila for medical studies by prince Abhaya. Having proficiency in treatment he was asked by the teacher to bring something which is not medicinal. Jivaka travelled a *yojana* all round Taxila and could not see anything that was not medicinal. The Mahāvagga gives this account of Jivaka as :—
 “*āhīṇḍantomhi ācariya takkasilāya samantā yojanam, na kiñci abhesajjam addasam'ti*”.¹²

Female Education :

5.1. Generally, the common people believe that females were not permitted to take education in the ancient India. This is not correct at all. We have many examples that women were highly qualified in the Vedic age. In the Sūtra-period also they were not only received education, they were employed in the military.¹³ They also had been enrolled as students, teachers and scholars. During the time of Gautam Buddha, females had right to study the śāstras and were taught to read and write. The Lalitavistara narrates that Gautam needed a maiden who is accomplished in writing and in composing poetry who is endowed with good qualities and well-versed in the rules of the Śāstras viz.,

*sā gāthalekha likhite guṇarthayuktā
yā kanyā īdṛsā bhava mama tām varethā |*

and

*sāstre vidhijña kuśalā gaṇikā yathaiṃva
paścāt svapet prathamamulthihate ca śayyāt |
maitrānuvarti akuhāpi ca māṅbhutā
etādṛśim mi nṛpate badhukām vṛṇīṣva ||*¹⁴

The Mahāparinibbān-sutta mentions that *bhikṣuṇis* should undergo two years probation before receiving the *Upasampadā* ordination, during which they would learn the Six precepts.¹⁵ We also get information in details regarding the Samgha meant for the *bhikṣuṇis* from the vinaya-Pitaka. The Cullavagga has also some rules and regulations meant for *bhikṣuṇi-samgha*.¹⁶

5.2. According to the Majjhimanikāya *bhikṣuṇis* should not take their seat in the presence of a *bhikṣu* without the permission of the later and the former should receive instructions from the *bhikṣu* by turn.¹⁷

53. Females were not only being educated with the rules and regulations of the Buddhist religion, they were also studied the Buddhist philosophy. The Majjhimanikāya narrates that once Dhammadinnā was asked by Visākha to explain *Sakāya-ditthi Sakāyanirodha, ariya-atthaṅgikomaggo, samkhāras, nirodhasamāpatti* and several kinds of *vedanā*. She explained these with full satisfaction.¹⁸ Later she was praised by the lord himself and ranked as the foremost among the sisters who could preach.¹⁹ She also mastered the Vinaya well. Another well-educated lady named Sukkā was a great preacher and when she taught the nuns the Buddhist doctrine, everybody listened her with great attention.²⁰ Thus women were properly educated in the Buddhist societies in ancient India and, therefore, Dr. Law rightly opines that the gāthas sung by some women and the record of the intellectual attainments of certain individual ladies prove that a fairly high standard of literacy culture was attained in feminine circles in the days of Gautam Buddha.²¹

Teachers :

6.1. We came to know from the scriptures of the Hindus about six types of teachers like *guru, ācārya, upādhyāya, caraka, kathika* and *maṣkarīṇi*. Among these, according to Patanjali, the term *ācārya* was used for the highest of the high teachers, to an original thinker and efficient academician. In the Buddhist tradition five types of different terms are mentioned for the teachers viz , *dahara, sthavira, upādhyāya, ācārya* and *karmācārya*. Among these, 'Dahara is a small teacher, after passing ten summer retreats one becomes a *sthavira* or settled one, who could be trusted to live by himself without a supervision; but the *Upādhyāya* and *ācārya* are the most important classes of teachers'.²²

6.2. In the Buddhist tradition, the teachers were given the status according to their qualification. 'The brother who expounds orally one treatise in the Buddhist canon, whether *Vinaya, Abhidharma* or *Sūta*, is exempted from serving under the prior; he who expounds two is invested with the outfit of a superior; he who expounds three has brethren deputed to assist him; he who expounds four has lay servants assigned to him; he who expounds five, rides on an elephant and has a surrounding retinue'.²³

6.3. In the Milinda-pañho it has been stated that teachers should be careful about twentyfive qualities when they behave the students viz., *Sammā paṭipanne antevāsike ye ācariyānam pañcavīsati ācariyaguṇā ! te hi guṇehi ācariyena sammā patipajjitabbam ||* (IV-1-8). These qualities are 'He must always keep guard over his student. He must instruct him as to sleep and as to keeping himself in health. He must teach

him what to cultivate and what to avoid, to share the food. He should encourage him by the words, 'be not afraid, you will gain advantage from what is taught here.' He should never indulge in foolish talk with him. He should look upon him in his heart as a son, should not teach anything partially, keep nothing secret and he should love him, never desert him in necessity and always befriend him when he goes wrong.' Like the duties of a teacher, there are ten qualities of a student. In the same text these ten are explained in details—'*dasa ime mahārāja upāsakassa upasaka guṇā*': etc. (IV-1-9).

Relation between teacher and student :

7.1. In the Buddhist tradition a student had to live for the first ten years in absolute dependence upon his teacher and he who has completed his tenth year may give a *nissaya* himself. The word *nissaya* dependence and in the monastic system it is a relation between *ācārya* and the *antevāsīn*. The *antevāsīn* lives '*nissaya*' with regard to the *ācārya* i.e., dependant on him and the *ācārya* gives his *nissaya* to the *antevāsīn* i.e., he receives him into his protection and care.²⁴ In other chapters of the Mahāvagga, *nissaya* is said also of the relation between *Upādhyāya* and *saddhivihāraka*.²⁵

Later this was relaxed and competent student had to live only five years in dependence on his teacher. However, an unlearned one had to live in dependence on his teacher all his life.²⁶

7.2. Above all, the relation between a teacher and a student was like father and son. In the Mahāvagga lord says that—“The *ācārya*, O bhikkhus; ought to consider the *antevāsika* as a son; the *antevāsika* ought to consider the *ācārya* as a father. Thus these two, united by mutual reverence, confidence and communion of life, will progress, advance and reach a high stage in this doctrine and discipline.”²⁷ □

Notes and References :

1. This is the view of Sri S.K. Das and we do agree with this observation of Sri Das; Refer “The Educational system of the Ancient Hindus” of Sri Das; p. 1.
2. The direction for the performance of a rite as given in the Brahmana portion of the Veda, which according to Sāyaṇa consists of two parts, 1. *Vidhi* means ‘precepts or commandments’ e.g., *Yajeta* ‘he ought to sacrifice’, *Kuryat* ‘he ought to perform’; 2. *arthavāda* means ‘explanatory statements’ as to the origin of rites and use of the mantras, mixed up with legends and illustrations : Refer the Sanskrit-English Dictionary of M. William, Indian Reprint, Madras, 1987; p. 968.

3. Refer the Arthaśāstra of Kauṭilya; translated by R. Syama Sastri; pp. 10-11.
4. Vide : Das, S.K.; Educational System of the Ancient Hindus; Calcutta; 1930; p. 32.
5. Ibid; p. 33.
6. The Lalitavistara; ed. by P.L. Vaidya; Darbhanga, 1958; pp. 88-89.
7. Ibid; p. 88.
8. cf. na, bhikkhave, buddhavacanam chanaso aropetabbam/ yo āropeyya, āpatti dukkaṭassa.....etc./ The Cullavagga, Ed. by J. Kashyap; 1956; p. 229.
9. Cf; na bhikkhave, pañcahi abādhehi phuṭṭho pabbājetabbo/ The Mahāvagga, ed. J. Kashyap; 1956; p. 77.
10. The Mahāvagga; ed. J. Kashyap; 1956; pp. 78-80.
11. Refer the report of I. Tsing, translated by Takakasu; pp. 116-117.
12. The Mahāvagga, ed. J. Kashyap; 1856, p. 288.
13. Refer, Dash, N.K.; Education in Ancient South Asia as known from Pāṇini; the Asian Studies, Vol. 6, No. 4, 1988, pp. 1-8.
14. The Lalitavistara, ed. by P.L. Vaidya, Darbhanga, 1958, pp. 97-98.
15. Refer the Vinayapitaka II/253-255.
16. Refer the Cullavagga Chapter X i.e., the bhikkhunikhandhakam; ed. by J. Kashyap, 1953; pp. 373-405.
17. Refer the Nandakovadasuttam in the Majjhimanikāya; ed. J. Kashyap; 1958; pp. 361-375.
Cf; Kassa nu kho, ānanda, ajja pariyāyo
bhikkhunio ovaditum pariyāyena'ti ?
Ibid; p. 361
18. Refer the Cullavedallam suttam in the Majjhimanikāya; Ibid; pp. 369-376.
Cf; ...bhagavā visākhā upāsakā etadavoca—“Paṇḍitā, Visākhā, dhammadinna bhikkhuni, mahapanna, visākhā, dhammadinna bhikkhuni // (Ibid; p. 376).
19. Refer the Paramatthadīpanī, Dharmapala's Commentary on Therīgāthā, XII; ed. by Muller, E.; London; 1893, pp. 15-20.
20. Ibid; pp. 57-61.
21. Refer; Law, B.C.; Women in Buddhist literature, 1981 (reprint); pp. 61-62. Also refer the Chapter V.
22. According to the view of Rhys Davis and Hermann Oldenberg it is very difficult to draw a sharp line of distinction between acārya and upādhyāya. (Note 2 on I. 32.1 of the Mahāvagga).

Refer The Vinaya Texts (Sacred Book of the East Series Vol. XIII), ed. by T.W. Rhys Davids and H. Oldenberg; pt. 1; Indian reprint 1968; p. 178.

23. Vide; Das, S.K.; The Educational System of the Ancient Hindus, Calcutta, 1930, p. 157.
24. The Mahāvagga I. 32. 8, note 1 on page 179 by Rhys Davids and H. Oldenberg.
25. Ibid; p. 179.
26. Cf; “In consequence of that and on this occasion the Blessed One, after having delivered a religious discourse, thus addressed the Bhikkhus : ‘I prescribe, O Bhikkhus, that a learned, competent Bhikkhu lives five years in dependence (on his ācārya and Upādhyāya), an unlearned one all his life’”. Ibid; p. 207.
27. Ibid; p. 179.

—(Dr. Narendrakumar Dash)
Deptt. of Indo-Tibetan Studies
Vishva Bharati
Shantiniketan—731235

THE CONCEPT OF DEVELOPMENT AND MAN

● *Anand Kashyap*

Along with the concept of nature and the concept of man, the conception of time was also restructured from the ancient mythic cyclical movement to that of a linear journey or the "march generale" of history. This linear development of man as *homo faber* has been the crux of all progress ideologies and models of modernity. Modernization and development, in fact, have become synonymous to each other constituting of two facets of the same reality of change perceived through linear history, thus creating a schism between tradition and modernity juxtaposed in mutual contradictions and as binary opposites of each other. There hardly appears any attempt to synthesize them into some principle of complementarity and mutual harmony. Instead of being a symbiotic dialectic, the twin processes of tradition and modernity, in developing societies like India, have become a phenomena of "double alienation."

Before World War II the concept of man as *homo faber* and as the Cartesian/Baconian 'master and possessor of nature' had held immense hopes in the hearts of people for an optimistic future. But since the havoc wrought on Hiroshima and Nagasaki by two primitive atom bombs some serious apprehensions and doubts have been puzzling social thinkers and social scientists, not only regarding the nature and efficacy of technology but also regarding the very concept of scientific knowledge and its epistemological assumptions. Similarly the Renaissance view of human progress and development is also being looked at sceptically.

In fact since World War II humanity has entered a new phase or "wave" of industrial civilization where the problem is not merely a problem of techno-economic growth or that of ideo-political manipulation, but one which has been precipitated by another dimension of the same problem in a new form, that is, the accelerating dehumanization of the world manifested in the lurking dangers of nuclear warfare, star wars, national and international terrorism, and the increasing use of scientific discoveries for sophisticated death technology. Dehumanization is also evinced in the general erosion of human values, the growing ecological imbalance through industria-

lisation and increasing criminalization and impersonalization in the spheres of social relationships of man. At the personal level also, a sense of meaninglessness or purposelessness of life has started growing out of proportions which is not merely a cost of progress, as was generally conceived by the positivist social scientists, but symptomatic of some serious lacunae endemic in our perception and construction of social reality.

The present paper aims at highlighting this issue with reference to the prevalent notion of social development which is a predominantly hedonistic-econocentric concept of technoeconomic growth. Generally sociologists who venture to make a swing in sociologizing this 'econocentrism' also generally land on the institutionalistic—collectivistic dimension of social reality which is another version of 'econocentrism' for they have no other alternative model of 'human development' except the econocentric-hedonistic one. They almost forget to look to the undercurrent of human consciousness—a phenomena constituting the most vital and key component of the totality of human reality. The image of man in sociology has by and large suffered from an excessive preoccupation with sociocentrism; this needs a serious review and a re-orientations so as to envisage man as a concrete human being central to all social concerns. James Degenais¹ draws our attention to the fact that the original programme of sociology which was initiated to cure the evils of society caused to men gradually turned into the task of curing the "evils" which men caused to the society. This inversion of the original approach of sociology is a natural out-come of the mechanomorphic view of man, nature and society and needs a new approach to revitalize the humanistic perception of reality and to formulate a suitable concept of social development capable of having insight into the future course of history also. With a view to conceiving of man in his existential totality and social development as a concomitant process of societal change commensurate with the growth of man's authentic subjectivity, this paper seeks to highlight the need for an integral perspective where the concept of man and the concept of development could be appropriately synthesized and articulated.

In this perspective instead of conceiving man as a one dimensional horizontal being, we could conceive him as being endowed with two important dimension of his being, viz, to use Hannah Arendt's² phraseology, "*vita-activa*" and "*vitacontemplativa*". While the *vita-activa* or the horizontal dimension relates and commits man to worldly activities or the praxiological dimension, the *vita-contemplativa* sees him with-drawn from the field of action in the aspect of becoming, in the contemplative or the centroversed aspect of his

being. The twin traditional concepts of Indian classical thought, viz. *pravritti* and *nirvritti* provide an apt expression to these two existential tendencies of man. While *pravritti*, or *vitta-activa* constitutes the centrifugal tendency, *nirvritti* or *vitta-contemplativa* forms the centripetal tendency of man's personality. It is "spiritual praxis"³ or the concept of *sādhana*, to borrow a concept more from the Indian traditional wisdom, which articulates these two components of man's being and gives this inner dialectic of man a meaning and a frame-of-reference to act in society. It is spiritual praxis or *Sādhana* which gives to man an upward psychic-mobility in the scale of values, i.e., a movement of his consciousness from the realm of pleasurable to the realm of preferable or desirable. This dialectic of the *vita activa* and the *vita-contemplativa* articulated and brought into harmony through the concept of *Sādhana* conceives freedom as the very essence of man, and therefore, instead of conceiving him merely as a cluster of social roles or as a *homo-faber*, i.e., reducing the wholeness of his existence into fragments or categories of 'public' and 'private' where 'private' signifies the realm of his freedom as an individual endowed with some natural rights, and 'public' the field of his life in collectivity, assigns him a trans-social meaning also. But this trans-social nature of man should not be confused with his asocial instinctive animality or the Freudian irrational. Instead it is a trans-figured non-rational or preferably supra-rational nature-constituting of the sacred or the transcendental part of his personality rather than the profane or the secularizing mundanity. In fact it is this trans-social transcendentality of man which reveals to him his authentic existence—a vista of freedom—and makes him a better or rather an ever-perfecting individual, a self-contented moral man, and also a compassionate social being full of altruism and concern for others. The essence of man's transcendentality lies in the fact that in order to go beyond narrow selfishness it is necessary first to realize self, i.e., his true identity as a human being. Thus man's true sociality is a function of his trans-social nature and the crux of the social relationships of man is the extension of his own real self.

As the *Upanishadic* wisdom of India observes regarding this essential transcendental nature of man, "nothing finite can satisfy the the human spirit which longs for infinity." The quest for self-expansion and infinity has been one of the basic existential needs of man expressed in different forms and ways in history.

The subduing and conquering of the dark and mysterious forces of nature, together with political expansionism form the characteristic features of the heroic tradition of the west. Oriental tradition in

general and Indian tradition in particular, are recognized for the expansion of the faculty of human consciousness into *advaitic* perfection through self-reflection and the development of self-awareness. As the historian G.C. Pande,⁴ observes that "there has been a persistent tendency in the west to create all-inclusive authoritarian structures," e.g., the *polis* among Greeks, the church in the Middle Ages and the state as a nation or party today. He observes that a linear view of history is one of the consequences of this attitude. Unlike the Indian tradition which maintains a deep faith in the simultaneity of time and the peaceful co-existence of heretic faiths and belief systems, the western heroic tradition has held its own ideology and beliefs as the only valid perception of truth worthy of propagation and expansion. Thus Alexander sought to hellenize the world and the Romans romanized it, and similarly in the recent past, Christians have tried to christianize it, now the same tendency is seen through the propagation of scientific rationalism especially in the attempt to modernize the third world countries

This expansionist tendency condemns the vast prehistoric and archical traditions as primitive simply because they are economically backward "as if wealth and intellectual attainment alone give meaning and value to life." Such a journey of expansion is in fact, a movement of history on the same horizontal scale where apart from heroic adventurism and rising standards of a comfortable living, no significant break-through in terms of a qualitative change of human consciousness has been made. The tendency to infinitize on the horizontal scale in contemporary modern society is best expressed by dilemma to use Daniel Bell's⁵ words, between "beyond" and the "limits." Modern man aspires to go "beyond" everything—"beyond tragedy," "beyond death", "beyond culture," "beyond morality" and so on, but is always confronted with the "limits of scale," i.e., "limits to growth," "limits to comprehension," "limits to resources," and many more other kinds of astringent constraints.

The transcendence or the infinitization of man in terms of an expanding consciousness or self-awareness, i.e., his growth as a value-seeking-being constitutes his vertical expansion. Max Scheler⁶ in propounding his model of Buddhist sociology had recognized this fact and had tried to comprehend human reality as a dimension spreading between the absolute unity of spirit to the concrete diversities of material life. To Scheler a higher value is that which is less dependent upon material goods, more holistic, less quantifiable in contents and deeper and more enduring is the fulfilment it yields.

Thus according to him while bodily pleasure endures only as long as there is physical simulation and the individual still longs for additional pleasure and deeper satisfaction, the feeling of bliss corresponding to the value of the holy or the sacred grants a deeper and enduring satisfaction ultimately minimizing his material needs to the bare minimum. The Indian tradition is essentially *homo heirarchicus* in this sense and is fairly represented by the four-fold goals of life called the *Purusharthas*, viz., *Artha*, *Kam*, *Dharma* and *Moksha*.

With the challenges of the post-modern era of this industrial civilization, the emergent realities of social life are highly illusive and the old traditional models and paradigms still cling to the same absolute utilitarianistic notions of the Welfare-Warfare which fail to explain them adequately or to offer a suitable alternative model of social development. Any functional, dialectical or humanistic approach which does not recognize the essential transcendental nature of man or his existence as a human being in totality, to my mind, will not be able to comprehend man, his actions and plights in sufficient measure.

As a result of the implacable Cartesian approach which was mainly responsible for separating man from his mythico-spiritual dimension and setting him on the voyage to modernity the hierarchical order between the *vita-contemplativa* and the *vita-activa* has been reversed and the entire society, as Hannah Arendt⁷ observes, "has been reduced to the society of labourers" and consumers.

In fact the growth of consumerism as a dominant value and style of life in post-modern society has reversed the order of traditional economics from the determinism of "supply" to the determinism of "demand." As Daniel Bell⁸ argues, due to the growing hyper-specialization and knowledge boom in the field of science and technology, there is a basic "shift in the axis of economics from supply to demand."

The result of this demand getting freed from the earlier supply constraints has given rise to a new adoration of technology as *Kalpataru* (the mythical wish fulfilling tree), and a novel dimension to the old economic barbarism characterized by the phrase "cowboy economy." Kenneth Boulding⁹ has suggested the replacement of this economic model of development by a more closed-ended "spaceman" economy which views this planet more realistically as a spaceship with limited "reservoirs" both for resource extraction and pollution deposits. E.F. Shumacher¹⁰ has also suggested the humanization of economics and the replacement of its gigantic consumerism by such

an alternative model of social development which could liberate man from the blind-folds of arbitrary and independent economic forces

Regarding the glorification of hedonistic consumerism by modern economics and sociology, Hannah Arendt¹¹ aptly observes that there is a tendency to glorify "labour," that "everybody today thinks in terms of a 'job' or 'work' and not in terms of making a living. And what we confront now is the prospect of a society of labourers without labour, that is, without the only activity left to them."

In fact the glorification of labour and the rising standards of consumerism as the measure of human happiness and social development form the two facets of the same coin, i.e., the dilemma of one dimensional man who has no other option but to choose either of the two ideals.

This problem or the dilemma of man imples one to reflect upon the concepts of "work" and "leisure" also. Work and leisure in fact constitute the two ends of the same continuum of man's life-world. In addition to looking at them as the structural properties of a society, we could see them as properties of the human consciousness also. While "work" as a force of extroversion impels man to act in consonance with the *vita activa*, leisure corresponds to the *vita contemplativa*, i.e. to a withdrawal from instrumental life.

Pieper¹² has tried to perceive "leisure" as a "form of silence" or perfect inner tranquility of the mind. This state of mind is not merely idleness or inactivity of the mind but an active affirmation of the self's agreement with itself. It is as Pieper remarks, the celebration of the "cultus" the spirit divine. Uprooted from the *cultus* it is idleness. On the other hand 'labour' is a metabolic process of the human body and 'work' a ceaseless labour directed towards utilitarian ends. Thus the ultimate end of leisure is to unite with one's own authentic self, not merely in recreation through sense pleasure which when once institutionalized and structuralized as that is society functions as the chief source of "conspicuous consumption", i.e., consumerism and mass-culture.

Leisure could, thus, be perceived as a chief component of man's self transcendence or *vita-contemplativa* and also as an structural opportunity to realize one's intrinsic freedom or the real selfhood in society. The perfection of human action or work does not dwell merely in the ceaseless pursuit of work or in outer success, i.e., material achievements, but in transfiguring the meaning of action itself and subsequently uniting man with his own source of authenticity,

i.e., his true subjective self. Such an action or work turns out to be more expressive rather than instrumental in approach and becomes the *Nishkama Karma-yoga* of the *Bhagwat Gita*. Thus such an action serves as a means to emancipate man from his subhuman vitalism.

It is laudable to consider alternative models of development but these endeavours do not provide an adequate base to meet the damage that has already been done by mechanomorphic and ultra-utilitarian doctrines and their blind execution, for these humanistic approaches do not offer an appropriate concept of the "integral man" in terms of his open-ended growth as a value-seeking-being. What is needed, in fact is, to use Ivan Illich's¹³ phrase, the "celebration of awareness," i.e., a revolutionary change in our perception of social reality which would make our approach more man-central than institution biased.

With the industrial civilization of the West fast becoming obsolescent, traditional Indian wisdom has much in the store to offer to the world. The contributions of Gandhi and Sri Aurobindo are remarkable in this direction, Gandhi as a moral praxiologist and Sri Aurobindo the contemplative philosopher who have worked out concrete solutions and a detailed cognitive frame-work to comprehend contemporary reality. Perhaps it is only the myopic xenophilia of Indian sociologists that makes them shy of accepting these visionary perceptions and insights. We would like to mention in brief some of the conceptual relevancies of these two great pillars of modern Indian social thought and bring out the implications relevant for our purpose.

Sri Aurobindo has tried to give a new meaning to the theory and process of evolution unlike the Darwinian thesis, he does not conceive of human evolution in the mechanical frame-work, i.e., as a process set into motion mechanically without any initiator. Sri Aurobindo extends this process of organic mutation from the plane of mere physical extence to the self-aware existence of man. To him man is a middle link between nature and spirit, continuously evolving to realize his real spiritual identity. He writes :

Man at his highest is a half god who has risen up out of the animal nature and is splendidly abnormal in it, but the thing which he has started out to be, the whole god, is something so much greater than what he is that it seems to him as abnormal to himself as he is to animal.¹⁴

To him, thus, man is always a "future" or a potentiality which should not be judged merely in terms of his "real" or present achievements.

Sri Aurobindo is critical of conservative reason and rationality which always tend to confuse the law of the future with the law of the past and present as if the future is merely an extension or the repetition of the past or present. Positivist reason, as D.P. Chattopadhyay¹⁵ observes, is more faithful to actualities than to possibilities and that is why even at its best, reason can think only of that future which is more of a reproduction of the past and the present than the integral totality of the future. The nature of scientific prediction is also this kind of reductionism a second order construction, as it is always a conditional and selective prediction rather than a prediction of reality in its totality.

A positivistic-minded scientist or a social scientist in his reductionist understanding is biased when he attempts to explain "ought" in terms of "is" and "ideals" in terms of "actualities". It is to this effect that Sri Aurobindo¹⁶ writes about scientific methodology that :

We seek to construct systems of knowledge and systems of life by which we can arrive at some perfection of our existence some order of right relations, right use of mind, right use and happiness and beauty of life, right use of the body. But what we achieve is a constructed half-rightness mixed with much that is wrong and unlovely and unhappy...

With his concept of the evolutionary integral-man, Sri Aurobindo, abrogates the division created by Descartes between existence and its concept i.e., essence, moreover he undoes the split created by the *Sramanic* and the *Vedantic* (Shankarite) philosophical schools between life and spirit through the institutionalization of *Sanyas*, i.e., world renunciation. To him life or the existence of man is an integral whole and his development in the world of nature and society is a process of outwardly horizontal evolution as well as an inward vertical evolution of his self-awareness which taken together constitute an integral development of man in society.

To both Sri Aurobindo and Gandhi *man* forms the basic unit of social development and serves as the key agent for all kinds of social changes. They do not construe social reality as *sui generis*, i.e., independent of man's existential context; for without articulating the dimension of human consciousness significantly with the dimension of the institutional structure of the society, no viable model of social development is possible.

Like Sri Aurobindo, Gandhi does not offer any theoretical model of social development, but through his moral praxiology and the ideas expressed in different writings, a well-articulated system of

thought could easily be worked out. The most important of his ideas which have a direct bearing upon the concept of social development are the metaphysic of *satyāgraha*, the ethic of *ahimsā* and the theory of trusteeship and *aparigraha*. In fact *satyāgraha*, as Gandhi¹⁷ has conceived it, is the science of social change based on the principle of the realization of truth through the *Nishkāma Karma-yoga* of Bhagvat Gita. The realization of truth through *satyāgraha*, is a process of the dealienation of one's self from imposed falsehood. This imposition of falsehood could have a myraid of sources and many forms, viz , through false laws imposed by foreign rule, exploitation of the deprived sections of society by the higher castes or classes, the evils of dowery, corruption, militarism and coercion, etc. The ideal of *satyāgraha*, in fact, is to become "zero," symbolizing the perfect self-transcendence of man from the falsehood of his egocentrism, and to learn to be strong through perfecting his obvious weakness, i.e., humility. To put it in a Taoist metaphor, water (humility of the soul) is more powerful than the rock (physical force). Thus the main key in bringing about change in society through *satyāgraha* is not economic or the political force or the outer revolution but the complete moral and change of heart through the realization of truth. It is a "process of self-discovery and ends with mutual liberation by a firm grasp of the truth."¹⁸ In fact the true change emanates from within the man himself, and in terms of the Gandhian logic, any other mode of social development or *sarvodaya* based on some extraneous agency of change if a wrong approach to development. In fact the good that concerns all should be subscribed to by everybody and cannot be imposed merely by one person upon others; nor can it be perfectly cast into some institutional mould. In terms of Gandhian thought the institutional approach to social change tends to generate social conflict and man becomes relegated to a secondary position.

As D.P. Chattopadhyay¹⁹ observes.

The common denominator of social aggregates is inversely related to their numbers. The factors which are common to all social groups and institutional frame-works are bound to be few and superficial.

Thus the basis of human unity or the inner consensus of a society that can be achieved through the common factor could never be made possible through any institutional mechanism, however carefully it might be planned. Again while men can change themselves speedily and easily to bring about change through institutional

methods is an arduous and a sluggish process. Institutions are inherently conservative in nature and they are "bound to inject a mechanical character" and the elements of impersonality in the society.

As to Sri Aurobindo, the ideal of a perfect or good society, to Gandhi also is a pure spiritual anarchy with no outer restraints imposed on man's authentic existence in society. The beauty of Sri Aurobindo's and Gandhi's thought is that both accept the creativity of man as a truth-force in society and so provide scope for the synthesis of modernity with the tradition and do not perceive a dialectics of tradition and modernity as inherently contradictory; their dialectics of change is a symbiotic dialectics which does not generate class conflicts but grows into unity, peace and harmony. But in the name of modernization, to both Sri Aurobindo and Gandhi, the extravaganza of science and technology which could reverse the order of the priorities of man's life-goals is not acceptable. The notion of spiritual anarchy as is generally construed, is not a concept of nihilism or destruction, rather it is a notion which corresponds to what Lannoy²⁰ calls the 'classless, stateless and decentralised democracy based on local and individual initiative.' The objective of spiritual anarchy is not to dislodge order but to establish a true or authentic order which is not imposed by any outside means or superficial majority consensus unsubscribed to by the individuals in their private lives, but through the realization of truth emanating from within their own consciousness. Erich Heller²¹ has rightly observed that "in fact we have become prisoners of our own intellectual freedom, an amorphous mass of victims to our sense of rational order" which is not worth living with. By "true order" he means that order "which embodies the incalculable and unpredictable, transcending our rational grasp..."

In fact, in terms of the inner logic of the ideas advanced by Mahatma Gandhi and the system of thought offered by Sri Aurobindo even the concept of society would be different from the Durkheimian notion of society as a 'conscience collective'. To them the notion of society is more an extension of man's authentic subjectivity or true consciousness rather than man being understood in terms of a "collective consciousness"—a reality *sui-generis*, independent of the psychic reality of man.

Thus through this logic, it would be more appropriate to conceive of society as a spirited unity of self-consciousness, full of "truth-force" or "soul-force" rather than as mechanical.

In fact the characteristic approach of the Indian social and philosophical thought to the problems of life and reality is quite different from the linear rational approach of the west. As Lannoy²² points out. "The non-linear cluster configuration of Indian thought does not proceed along a developmental line progressing to a climax, but is a spiral from a germinating point and swelling in value by return and repetition." He further observes that where the linear thought systems fail to meet the challenges of the non-Euclidian world of today, the Indian mind is at home in perceiving the multi-dimensional reality and its simultaneity all-at-once.

The multidimensional and Kaleidoscopic reality of the post-modern society of the world has proved to be greatly elusive for almost all varieties of linear models designed to comprehend it, whether it be the Marxist socialist variety or the functional utilitarian variety. And as John Rex has suggested, it requires a sociologist to take a moral stand now and demystify the "pseudo-scientific world of the ideologists" including the "ideology of revolution as well as the ideology of the status-quo."²³

It is only through such a process of demystification by rejecting the value-neutral stance of sociology that a break-through in giving a new orientation to this discipline can be made and a new "logico-meaningful" stance be achieved. For achieving such results we will have to start thinking, to use Feyerabend's²⁴ phrase, "counter inductively," i.e., through questioning the very assumptions on which this discipline rests. This process of "counter-inductivity" and "demystification" must accompany a positive search for alternative ways of perceiving social reality and reconstructing society. It is only through this process of "counter-inductivity" that the stalemate created by the heavy emphasis on positivist methodology may be eschewed.

The Indian traditional thought reformulated and rearranged, according to the emergent historical conditions of the present day world, by Mahatma Gandhi and Sri Aurobindo provides ample scope for a sociologist to extract some meaningful concepts of human reality from these systems of social thought and offer models of social development which have greater relevance for the present day dehumanizing world than the mechanomorphic linear concepts of the conventional econocentric variety. □

References

1. Jamas J. Degenais, *Models of Man : A phenomenological Critique of some Paradigms in the Human Science* (The Hague :

- Martins Nijhoff, 1972), p. 91. See also, Y. Singh, *Image of Man* (Delhi : Chanakya Publications, 1984), pp. 23-77.
2. Hannah Arendit, *The Human Condition*, (Chicago : The University of Chicago Press, 1958), pp. 16-17.
 3. See G C. Pande, *Foundations of Indian Culture* (Vol. 1), (New Delhi : Books and Books, 1984), p. 2.
 4. G.C. Pande, *The Meaning And Process of Culture* (Agra : Shiva Lal Agarwal and Co., 1972), pp. 103-105.
 5. Daniel Bell, *Sociological Journeys : 1960-1980*, (London : Heinemann, 1980), p. 276.
 6. Max Scheler, *Problems of A Sociology of Knowledge*, (Tr. by Manfred S. Frings, ed. by Kenneth W. Stikkers) (London : Routledge and Kegan Paul, 1983), pp. 13-17.
 7. Hannah, Arendit, op. cit., p. 294.
 8. Daniel Bell, op. cit., p. 22.
 9. Kenneth, Boulding, "The Economics of the Coming Spaceship Earth" in *toward a Steady-State Economy*. Herman E. Daly (ed.), (San Francisco : Freeman 1973), pp. 127-29.
 10. E.F., Schumacher, *Small is Beautiful : Economics as if People Mattered*, (New York, Harper and Row, 1973).
 11. Hannah, Arendit, op. cit., p. 294.
 12. See, S.P. Nagendra, "The Concept of Ritual in Modern Sociological Theory," *The Academic Journals of India*, (New Delhi, 1971), p. 166. and
J. Pieper, *Leisure, The Basis of Culture*, (London : Faber and Faber, p. 52).
 13. Ivan, Illich, *Celebration of Awareness : A call for Institutional Revolution*, (Penguin Books, 1980).
 14. Sri Aurobindo, *the Human Cycle*, centenary volume, (Pondicherry : Sri Aurobindo Ashram, 1972), pp. 210-212.
 15. D.P. Chattapadhyay, *Environment, Evolution and Values : Studies in Man, Society and Science*, (New Delhi : Sauth Asian Publishers, 1982), pp. 57-58.
 16. Sri Aurobindo, *Life Divine*, First University edition, (Pondicherry : Sri Aurobindo Ashrama, 1955), p. 1229.
 17. See (i) Joan Bondurant, *Conquest of Violence : The Gandhian Philosophy of Conflict*, (Berkly : University of California Press, 1958).
(ii) D.P. Chattapadhyaya, p. 193.

18. Richard Lannoy, *The Speaking Tree* (London : Oxford University Press, 197), p. 404.
19. D.P., Chattopadhaya, pp. 202-203.
20. Richard Lannoy, p. 410.
21. Erich Heller, *The Disinherited Mind* (London : Bowes and Bowes 1952).
22. Lannoy, p. 423.
23. John Rex, *Sociology and the Demystification of the Modern World* (London : Routledge and Kegan Paul, 1974), pp. 252 253.
24. Paul, Feyerabani, *Against Method*, Verso Edition (London, 1980), p. 29.

—Dr. Anand Kashyap
Head

Dept. of Anthropology
University of Rajasthan
2. K.I. Jawaharnagar, Jaipur—4

ARMY PROBLEM IN KAUTILYA'S ARTHAŚASTRA : AN OBJECTION

● *Dhananjaya Bhanja*

Politics plays a crucial role in a country to establish its proper ruling system. Generally, when a state faces a problem either external aggression or internal affair then proper use of politics leads to proper reconciliation. The concept of politics is as old as the civilization of man. In order to maintain mutual understanding and relationship between the countries, one has to use politics in a tactful manner, i.e. one has to be a good diplomat.

In any country, whether developed or a developing one, the foremost duty of a king or a ruler is the protection of his kingdom (country or state). For that, he has to utilise his defence forces in order to get a hold over his strong opponents. This can also be done through diplomacy, i.e. in turn through politics.

In contrast to the prevailing conditions of today, in olden days, the kings were less guided by politics. They must have been great politicians, but their political knowledge did not come into force in course of the administration of their kingdom and hence mostly they had to adopt and rely upon their army-men with great respect for protecting their motherland.

Today the opponent is pleased or is made to surrender not through battle and fighting on the battle field but through political/diplomatic talks. Politics today has come to provide safety and security to common man.

Kautilya's Arthaśāstra, a *magnus opus*, is the present example for its clear existence. It is followed by modern politicians as a major sword to fight against injustice. The common meaning of Arthaśāstra is usually taken as the 'science of money' and economics but in particular its meaning goes beyond this and it tells us as a 'Science of tricks' that is *māyāśāstra* or *upāyavijñāna*.¹

Out of 15 *adhikaraṇas* and so many chapters we have chosen the 133th chapter from 8th *adhikaraṇa* for the present paper, which discusses on the different calamities of the army and other army problems. In this context, one can easily accept the theories of Kautilya, regarding employment of Army, in the separate groups for

fighting period. There are 34 varieties of Army. Briefly, here we discuss them with some objections only. The detailed study of the different groups of Army are not necessary for this paper and pointing out the differences of one from another.² Yet we believe that there are many points for which unnecessary separate divisions have been made and those points could be included under the other divisions or varieties.

Objections :

It is not needed to clarify 34 varieties of Army, because of similar actions taking place, among some different varieties. For example :

1. Variety number 1st and 2nd;

The first variety called as *amānita*, which is unhonoured since a long time is the better than the second variety, called as *vimānita*, which is dishonoured since a long time too. At the time of battle, according to Kauṭilya, *amānita* is far better, because the king can honour that Army variety and then the army can fight properly. But due to the dishonour, *vimānita* can not do that.³ But logically, it is incorrect. If *amānita*, after receiving proper honour becomes ready, then king should follow the same way to praise *vimānita* with a large amount donating him. After this he can forget his earlier mood, and fight, like *amānita*. Further, there is no major difference between *amānita* and *vimānita*.

2 Variety numbers 6th, 7th and 25th;

Here the 6th variety of army called as *dūrāyāta*, which comes after a long march alike the 7th variety, called as *pariśrānta* army. Both become tired and restless. Due to lack of food, *pariśrānta* becomes exhausted more than *dūrāyāta*. Kauṭilya prefers the 5th variety than the 6th one and says that 6th variety is more harmful than 5th variety.⁴ In the context of *pariśrānta*, Kauṭilya again marks that, this variety is less harmful than 8th variety.⁵ We must not follow the opinion of Kauṭilya in this regard and should object that, after having proper food, shelter, rest etc, both 6th and 7th varieties can do same job on the battle field. Further, the 25th variety called as *chinnadhānya*,⁶ which has no food at all, is very much similar to the above mentioned two varieties (i.e. 6th and 7th varieties). It would be appropriate to accept only one variety for those three varieties.

3. Variety numbers 8th, 10th and 26th;

Kauṭilya points out that, the army variety namely *parikṣiṇa*,

which is depleted due to loosing its army-mates on the battle field is more harmful than the 7th variety, i.e. *parīśrānta* which is exhausted due to lack of food only.⁷ The 10th variety called as *hatāgravega*, an army-man, who has broken in the first ever onslaught is also more harmful than the 9th variety i.e. *pratihata* army.⁸ The 26th variety of army is *cchinnapurūṣavivadhā*, which is devoid of grains (food) and men (army) is a destroyer than 25th variety, i.e. *cchinnadhānya* army.⁹ But our discussion and conclusion would affected Kauṭilya's selection method as : all the three varieties are same in action and in facing the problems. All are devoid of army-men and grains. Further, the 8th, 10th and 16th varieties appear to be similar. Therefore, those three varieties should be in one single variety only

4. Variety numbers 14th, 32th and 33th;

This discussion is also based on other three varieties i.e. 14th, 32th and 33th. The 14th variety is namely, *parisṛta*, the deserted army is staying without a leader¹⁰ The 32th variety called as *aswāmīsamhata*, which is not united with the leader (master or king), is also facing the same problem¹¹ The 33th variety is called as *bhinnakuṣa*, which is staying with having head-broken or without a leader, also joins in this variety¹² We would like to mark here, that, all these varieties of Army are losers in the case of leader. There is no necessity to divide them into three different varieties.

5. Variety numbers 16th and 18th;

The 16th variety is called as *antaḥśalya*, a soldier with having 'dirt' inside, is worse than *kalatragarhī*¹³ The 18th variety of army is *bhinnagarbha*, which have split-inside, is also not better than *kupitamūla* variety¹⁴ But to recognise both varieties, we can see the similarites and both are same as usual. Because they have same problem, that is rivalry inside themselves. So there is no reason to place them in two separate varieties.

6 Variety numbers 19th and 20th;

The most interesting part of our objection falls in this paragraph According to Kauṭilya, the 19th variety is *apasṛta* army, which is defeated or pained by one country only and the 20th variety is called as *atikṣipta* army, which is defeated by many countries¹⁵ Here, Kauṭilya says that, at the moment of battle, the 19th variety is far better than the latter one, i.e. the *atikṣipta* army.¹⁶ But we would not like this clarification of Kauṭilya in some context. For a clear understanding, this example can enrich our readers mind in a better way.

Suppose, there are many countries namely 'A', 'B', 'C', 'D',...

'M', 'N'... 'X', 'Y', etc. *Apasṛta* army is defeated by one country i.e. 'A'. *Atikṣipta* army is defeated by many countries i.e. 'A', 'B', 'C'...

Although, *atikṣipta* has been defeated by many countries, but it does not mean, to be defeated by all countries. So, for both varieties, there are some new countries, to fight with for the first time. In this situation the king should prefer both varieties to allow them for fighting. Therefore, Kauṭilya's view is not showing a neutral judgement for both varieties, but a little bit partiality for *apasṛta* only.

Any way, at this moment, we are here to amplify a clear idea in the minds of our readers and not to start querrel among the supporters of Kauṭilya's thoughts. Afterall, *Arthaśāstra* demands a new ideology to get its proper place in modern politics. We have mentioned earlier that our view goes to a limited area and therefore, here we want to disclose the ideas of Kauṭilya. In the ancient era, the political situation was not the same like today's politics. Through this great work, we, the citizens of India, can get the real value of our oldest traditional politics and enrich our thoughts in a greater way. □

References :

1. Arthaśāstra 15.1.2.
2. The Kauṭilya Arthaśāstra; Part II, R.P. Kangle, University of Bombay, 2nd edn. 1972 pp. 101-104.
3. Arthaśāstra, 8.5.2
4. ibid, 8.5.4
5. ibid, 8.5.5
6. ibid, 8.5.14
7. ibid. fn. 5
8. ibid, 8.5.6
9. ibid, fn. 6
10. ibid, 8.5.8
11. ibid, 8.5.17
12. ibid, 8.5.18
13. ibid, 8.5.9
14. ibid, 8.5.10
15. ibid, 8.5.11
16. ibid, fn. 15

—Dhananjaya Bhanja
C.A.S.S
University of Pune,
Pune—7.

JAIN KARMA THEORY

● *Serguet Krivov*

The pluralistic approach to rationality has one interesting parallel in ancient Indian culture. That is Jain Anekanta Logic.

"Anekanta means not ekanta. Anta literally means end of extreme (11). "Anekanta is often translated as logic of non-absolutism. Anekanta"...affirms the passability of diverse attributes in a unitary entity. Strictly speaking, a thing is neither an absolute unity nor split up into an irreconcilable plurality. It is both unity and plurality all the time (9)" Anekanta could be considered as a set of statements : "The cognizable object is universal-cum-particular existent-cum-non-existent, eternal-cum-non eternal 'expressible cum-non expressible and thus indeterminate in terms of formal contradiction (11)."

How is possible that things exist and not exist simultaneously ? We see a jar in it's place and not existing in another place. Existence and non existence are thus both predicable of the jar (11).

Thus ; ANEKANTA EMPLOY MUNDANE HUMAN ABILITY TO LOOK ON THINGS FROM DIFFERENT POINTS or an ability of images processing. But anekanta is not restricted by things perceivable by sense organ. It is applicable to complex idea which could be seen from following dialogue (10) :

Gautam : Is the soul permanent or impermanent, o Lord ?

Lord : The soul is permanent in some respect and impermanent in another respect. It is permanent in respect of it's substance (which is eternal) and it is impermanent in respect of modes which originate and vanish.

Some Jain sages are used to generalizing anekanta logic into following form : *All systems of philosophy are only different projections, different 2 dimensional pictures of one 3—dimensional reality.* I have listened this statement from Muni Mahendra Kumar, Muni Dulahraj and Muni Dharmesh during my stay in Jain Vishva Bharati campus.

Jain philosophy articulate objectivism and has it's own system of metaphysics supposed to be absolute. And some jainas may not agree if their system will be considered as only one possible

projection of reality. That is somehow inconsistent with idea of anekanta approach. Thus keynote of Jainism which is common for all Jain sects is effort for common peace and non-violence. And those jainas who involve peace movement articulate anekanta approach to interreligious communication.

Computer Mandala of Jain Karma Theory

The concept of karma and rebirth are accepted by almost all religions in India and by mystical philosophy in the West. The gist of the doctrine is following :

1. Every living being has immortal soul which is the substrate of consciousness.
2. There is karma-body around soul which keep information about past experience of the soul.
3. Every action of a living organism—thought, speech or body certain potential psycho-physical force (karma-body is substrate which is responsible for this kind of forces) which could come into activity under appropriate condition in the worldly life.
4. Karmic bondage lead the soul through stages of existence. Soul reincarnate into different classes of living beings according to it's karma.

We may have more meaningful outline of karma theory if we concentrate on one particular tradition. Let us take Jaina tradition. The following sketch of Jaina Theory of Karma is composed on the basis of books mentioned in bibliography (6-16) and private discussion with Muni Mahendra Kumar, Muni Dhermesh and Prof. L.C. Jain.

According to Jaina tradition karma is a kind of matter (which has atomic and molecular structure). Karma body (karmana sharira) consist of molecules of karmic matter. 'The soul exist in contamination with karmic matter and it longs to be purified. Living beings differ due to the varying density and types of karmic matter. The karmic bondage leads the soul through stages or existence cycles (12)".

Some kind of analogy between a computer and Jaina Universe has been already used in some modern works on Jainology. In "Neuroscience and Karma" (13) karma particles are storing in the karma body are considered as some kind of programs which work in proper situation and totally determined human conduct. That is good example how computer could be used for metaphorical or mandala thinking.

The following consideration shows that we may reduce the

problem of modelling of karma theory to the problem of modeling of several logical links

A soul operate through particular body (human, animal, celestial, hellish). We shall consider behavior as sum of Yoga and Kashaya. Yoga or activity consists of operations of body, organ of speech and mind. Kashaya is passions. The behavior takes place in particular situation. It depends on situation which produces outer stimulus. It depend on soul which produces inner stimulus and pure wisdom (vishuddhi). The behavior of the subject changes the situation. It also causes new karmic bondage of the soul (ashrava and bandha).

We have here complete cybernetic Feedback cycle : Behaviour create karmic bounds. Karmic bound from their side influence further behaviour.

Behaviour in a particular situation depends on structure of situation and karmic state of the soul (Satta). According to Jain Philosophy karma contributes into behaviour through our consciousness. Consciousness is divided into 2 kind :

- (1) vishuddhi-pure consciousness. The soul is the subject of vishuddhi.
- (2) karma chaitanya—consciousness caused by karmic bound. It may be better to describe karma chaitaniya as a kind of consciousness which is spoiled by karmic bound. The subject of the consciousness is the soul. Karmic bound does not create consciousness, it only contributes into it.

In another words we have to find the set of rules which describe binding. They may have the form :

if $\langle A, p \rangle$ then binding by $\langle K, D, I, Q \rangle$

(If the action A has taken place along with the passion P, then there is binding by karma skandha of kind K, with the duration of fruition D, with the intensity of fruition I and content Q particles.)

Perhaps the first logical link is the most difficult to grasp. We have to define dependence of behavior from the karmic bound and the structure of the situation in terms of logical rules. In the first stage this task could be solved only if we extremely simplify the scope of possible situations.

One of the question arisen here is that : How and up to which extend according to Jain karma theory karma define human behaviour ? Whether karma dictate us our behaviour or it only imposed some restriction on it ? It seems that Jain karma theory supports second point. Quick glance on definition of 148 kinds of karmic matter (prakrities) show us that karma could say just nothing

about details of common sense action which we do. They describe only general features of these actions. It seems that contribution of karma into our behavior could be considered as *a restriction of possible behavior and possible development of situation*. If we have a situation A then according to common sense logic it may be possibly transformed into situations $A_1, \dots, A_i, \dots, A_n$. The karmic bound restrict this set of possible outcome from the situation A to the set A_1, \dots, A_i . The intelligence which is required to aware all possible outcomes from a situation and to make a choose is awarded by the soul. Karmic bound is only restrict this gift of intelligence. ○

Literature

1. Feierabend, P Farewell to Reason
2. Skolimowski, H., Eco-Philosophy Designing New Tactics For Living, IDEAS IN PROGRESS, 1981
3. Skolimowski, H, The participatory mind, ARKANA, 1994
4. Skolimowski, H, Dancing Shiva in the Ecological Age, IIEE, New Delhi, 1995
5. Concept of Ecology, WEED, IIEE, New-Delhi
6. Reality (English translation of Tattvarthasutra)
7. Gommatsara jivakanda
8. Gommatsara karma KANDA
9. Satkari Mookerjee. The Jaina Philosophy of non Absolutism. Motilal Banarasidas, DELHI.
10. Yuvacharya Mahaprajna, New Dimension of Jaina Logic.
11. Acharya Tulsi, Illuminator of Jaina Tenets. JVB, Ladnun
12. K V. Mardia, The Scientific Foundation of Jainism Motilal banarasidas, Delhi
13. Z.S. Zaveri and Muni Mahendra Kumar, Neuroscience and Karma, JVBI, Ladnun.
14. L C. Jain, Tao of Jain Sciences
15. English commentary of L.C. Jain on Labdhisara (in press)
16. Glassenap, The Doctrine of Karma in Jaina Philosophy

—(Serguei Krivov)

C/o A 15, Paryavaran Complex
South of Saket,
New Delhi—110030

तुलसी प्रज्ञा (पूर्णांक-१७) पर प्राप्त हुई कतिपय प्रतिक्रियाएं

१. 'प्राकृत ज्ञान विद्या विकास फण्ड, अहमदाबाद' से डॉ० के० आर० चन्द्र लिखते हैं—

'शौरसेनी के बारे में जो गलतफहमी फैलाई जा रही है वह **academic** नहीं होते हुए मात्र सांप्रदायिक है। आपका इस विषय पर जो संपादकीय प्रकाशित हुआ है, वह प्रशंसनीय है। इस पर तो और भी काफी लिखा जा सकता है।'

२. ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ से डॉ० शशिकान्त लिखते हैं—

'आपका सम्पादकीय—शौरसेनी कहने का आग्रह क्यों?—अनुचित नहीं है। इस विषय पर शोधार्थ-२६ में 'भगवान् महावीर की प्राकृत' पर अपने विचार पहले ही दे चुके हैं।'

३. वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) से अवकाशप्राप्त प्रोफेसर डॉ० भूपतिराम साकरिया लिखते हैं—

'आपका संपादकीय 'शौरसेनी का आग्रह क्यों?' मैं गम्भीरतापूर्वक पढ़ गया हूँ। समझ में तो अधिक नहीं आया, परन्तु आपके संपादकीय ने मुझे उत्तेजित किया है। गत तीन वर्षों से मेरा सोच यह रहा है कि राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति किसी मारु अपभ्रंश से हुई है, अन्य किसी अपभ्रंश से नहीं। श्री सीताराम चतुर्वेदी ने केन्द्र की भाषा पत्रिका में छपे अपने एक लेख में अनेक संस्कृत ग्रन्थों के उदाहरण देकर यह प्रस्थापित किया है कि हिन्दी की उत्पत्ति किसी अपभ्रंश से न होकर सीधे संस्कृत से हुई है।

आज राजस्थान के अनेक विश्वविद्यालयों में एम. ए. में राजस्थानी विषय पाठ्यक्रमों में है और सभी प्राध्यापक भाषा विज्ञान के अन्तर्गत हिन्दी का भाषा विज्ञान पढ़ाते हैं। आप जैसे सक्षम विद्वान् से राजस्थानी भाषा अपेक्षा रखती है कि आप एक भाषा विज्ञान का लघु ग्रंथ ही सही राजस्थानी पर अवश्य लिखें। यह एक 'माइल स्टोन' होगा। जहाँ मेरी सेवाओं की आवश्यकता आपको लगे, मुझे अवश्य लिखें।'

४. अलखसागर, बीकानेर से डॉ० गिरिजाशंकर शर्मा लिखते हैं—

'भारतीय विश्वविद्यालय स्तर पर जो शोध पत्रिकाएँ देखने में आ रही हैं, उनमें 'तुलसीप्रज्ञा' अपनी विशेष पहचान बनाए हुए है। गुणदृष्टि से सभी

लेख शोधपरक एवं सूचनापरक हैं। नवीनतम अंक में जैनदर्शन के साथ कालक्रम और इतिहास विषयक लेख देकर आपने 'तुलसी प्रज्ञा' के पाठकों के दायरे को बढ़ा दिया है।

'तुलसी प्रज्ञा' में जैन स्रोतों पर भी अधिक से अधिक सामग्री दें तो भारतीय इतिहास का अनेक स्थानों पर अवरूद्ध हुआ इतिहास क्रम सामान्य बन सकेगा।'

५. वरदा, विसाऊ और विश्वंभरा, बीकानेर के संपादक डॉ० मनोहर शर्मा लिखते हैं—

' 'तुलसी प्रज्ञा' का नया अंक (९७) प्राप्त हुआ। इसमें अति महत्त्वपूर्ण सामग्री दी गई है। प्रकाशन श्लाघ्य है। एतदर्थ हार्दिक बधाई।'

६. १३६, सहेली नगर, उदयपुर से अवकाश प्राप्त प्रोफेसर प्रतापसिंह लिखते हैं—

'आपके अतिरिक्त किसी ने भी १५ संधियों की मेरी शंकाओं के समाधान में कोई सहानुभूति व सहयोग नहीं दिखाया। सबने उपेक्षा या पलायनवाद का सहारा ले चुप्पी साध ली है। आपके इस सहयोग के लिए धन्यवाद।'

७. 'पांचाल शोध संस्थान', कानपुर से श्री हजारीमल बांठिया लिखते हैं—

' 'तुलसी प्रज्ञा'—पूर्णांक ९७ मिला। सदैव की भांति अनुसंधान-सामग्री से ओत प्रोत है।'

—प्राप्त पत्रों से

Registration Nos.

Postal Department : NUR-08
Registrar of News Papers for
India : 28340/75

Vol. XXII

TULSI-PRAJNĀ

1996-97

Annual Subs. Rs 60/-

Rs. 20/-

Life Membership Rs. 600/-

प्रकाशक-संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलंकी द्वारा जैन विश्व भारती प्रेस,
साठनू (भारत)-३४१३०६ में मुद्रित कराके प्रकाशित किया गया ।